आज की समस्याएँ

लेखक
राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक
किताब महल : इलाहाबाद

सूची

निवेदन

इस संग्रह में राहुलजी के तीन लेख और एक भाषण का समावेश किया गया है। तीनों लेख 'हंस' में छपे थे और भाषण मध्य-भारतीय फासिस्ट विरोधी-लेखक सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से (१९४४ में) दिया गया था।

डेढ़-दो साल के पुराने होने पर भी यह सामयिकता से रहित नहीं हैं। इसीलिए मैंने इन चारों का संग्रह किया।

१०१, अलोपीबाग़,
प्रयाग

—नागार्जुन
९-८-४५

पाकिस्तान या जातियों की समस्या ?

पाकिस्तान के सम्बन्ध में आजकल विरोधी या समर्थक के तौर पर हरएक समझदार भारतीय का ध्यान आकर्षित हुआ है। कितने ही लोग प्रतिगामी, अराष्ट्रीय नेताओं का देशद्रोह कह कर ख़तम कर देना चाहते हैं। कितने ही लोग समझते हैं कि भारत की जातीय समस्यायें सिर्फ़ पाकिस्तान और हिन्दुस्तान तक ही सीमित है। इस पर विशेष तौर से कहने के पहले यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि जातियों की समस्या—जिसके भीतर ही पाकिस्तान भी आ जाता है—सिर्फ़ भारत की ही अपनी समस्या नहीं है, बल्कि दुनिया के और देशों को भी इससे गुज़रना पड़ा है।

१—जातियाँ क्या हैं ?

(१) **जातियों की पहिचान**—किसी आदमी की जाति पहचानने के लिए सबसे बड़ा चिन्ह है उसकी भाषा। वेश से भी जाति की पहचान होती है, किन्तु वेश आजकल अधिकतर जातीय न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। हैट, कोट, पैण्ट अब सिर्फ़ पश्चिमीय यूरोप की पोशाक नहीं है, बल्कि अब वह सारी दुनिया में फैल चुकी है। इस-लिए वेश से हम किसी की जाति के बारे में नहीं कह सकते। विशेष प्रकार का भोजन भी जाति के चिन्हों में है। बंगाली मछली-भात को बहुत पसन्द करते हैं, पंजाबी रोटी, घी, दूध को सब से अच्छा खाना बतलाते हैं, तामिल को जब तक पाव भर भाजी में पाव भर मिर्च न पड़े और इमली की भरमार न हो तब तक उसे सारा खाना फीका लगता है। गुजराती के लिए दाल में भी गुड़ या चीनी डालने की ज़रूरत है। बिहारी की भाजी, तरकारी तेल में पकनी चाहिये और आलू या बैंगन के चोखे

(भरते) में कच्चे कड़ुवे तेल की खास माँग है। पश्चिमी यू० पी० के शहरवाले धुली मूँग या उरद की दाल और पापर-पपड़ी को बहुत पसन्द करते हैं। मारवाड़ी मिर्च में मद्रासियों का कान काटने को तैयार हैं। लड़कपन से आदमी जिस तरह का खाना खा आया रहता है, उसमें उसकी एक ख़ास रुचि बन जाती है; और इसीलिए बंगाली की जीभ पर न्यूयार्क में भी तेल की भाजी और मछली के लिए पानी आता रहता है। मेरे एक मुसलमान दोस्त जिनका कुछ दिनों तक मेरा साथ ईरान में रहा, ईरान में सीधे-सादे गोश्त और चावल को खाते-खाते तंग आ गये थे, और उनका फ़तवा था कि खाना और गाना हिन्दुस्तानी ही जानता है।

गाने की भी अपनी जातीय रुचि होती है। हमारे कितने ही परि-मार्जित रुचि रखनेवाले शिक्षित भारतीय यूरोप के महान् गायकों और गायिकाओं के गाने को दो मिनट भी सुनना बर्दाश्त नहीं कर सकते। जिनके गानों पर यूरोप और अमेरिका की करोड़ जनता झूम उठती है, उनका वह मज़ाक करते हैं। उनको यह नहीं मालूम कि हमारे गाने भी दूसरी जाति के लोगों को ऐसे ही मालूम होते हैं। भोजन की तरह गाने की भी रुचि बनानी पड़ती है। जिन भारतीयों को यूरोप के भोजन में धीरे-धीरे रुचि हो जाती है, उन्हें वह अच्छा लगने लगता है उसी तरह यूरोपीय गाने में भी रुचि परिवर्त्तन किया जा सकता है। इसका मतलब सिर्फ़ इतना ही है, कि गाने और खाने की जातीय रुचि को अंतर्राष्ट्रीय बनाया जा सकता है। तो भी गाना और खाना जातीयता का एक हद तक परिचय देते हैं, इसमें संदेह नहीं।

लेकिन जातीयता का सबसे पक्का चिन्ह भाषा ही है। यह ऐसा चिन्ह है जो सिर्फ़ हमारी भावुकता पर ही आधारित नहीं है, बल्कि हमारे जातीय उत्थान और पतन के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। आयर्लैंड की तरह कितनी ही जातियों को राष्ट्रीय उत्थान के लिए अपनी मूलभाषा को पुनरुज्जीवित करना पड़ता है। भाषा जाति के उत्थान में कितनी सहायक हो सकती है, इसे हम आगे बतायेंगे।

भाषा के अतिरिक्त एक दूसरी भी चीज़ है जो कि जाति के व्यक्तित्व की ज़बर्दस्त पुष्टि करती है, वह है धर्म। संस्कृति को हम यहाँ नहीं ले रहे हैं, क्योंकि वह भाषा, साहित्य, कला, और धर्म की सम्मिलित उपज है। कितने ही लोग जातियों पर विचार करते वक्त धर्म को छोड़ देना चाहते हैं। वह समझते हैं धर्म स्थायी चीज़ नहीं है। सोवियत् तुर्किस्तान के लोग आज से पचीस वर्ष पहले कट्टर मुसलमान थे, आज उनमें कुछ ही बूढ़े इस्लाम को मानते हैं। इस्लाम के न रहने पर ताजिक, उज़बेक, तुर्कमान, और किर्गिज़ अपनी जातीयता को खो नहीं बैठे हैं। आज उनकी जातीय संस्कृति—भाषा, साहित्य, कला, बहुत उन्नति कर चुकी है, और करती जा रही है। ऐसे दूसरे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, जिनको देखकर कितने ही लोग धर्म को जातीयता में विशेष स्थान देना नहीं चाहते। किन्तु ये वही करते हैं जिनकी नज़र सिर्फ़ भूत या भविष्य पर होती है और वर्त्तमान की कठिनाइयों से आँख मूँद लेना चाहते हैं। जिस देश में अपनी भाषा, साहित्य, कला, के बराबर या उससे भी अधिक जनता का दृढ़ आग्रह किसी धर्म के बारे में मिलता हो, और जब तक वह जनता उसके लिए बड़ी से बड़ी क़ुर्बानी करने के लिए तैयार हो; वहाँ हम धर्म से आँख नहीं मूँद सकते। कुर्दिस्तान के कुर्द और ईरान के शीया दोनों ही एक फ़ारसी भाषा बोलते हैं, तब भी कुर्द अपनी अलग जातीयता के लिए बराबर संघर्ष करते चले आ रहे हैं। क्रोशिया और सर्बिया की भाषा में उतना ही अन्तर है जितना कि छपरा और हाजीपुर की भाषा में, लेकिन धर्म के कारण इन दोनों का संघर्ष अभी तक चलता जा रहा है—क्रोशियन रोमन केथोलिक ईसाई हैं, और सर्बियन दूसरे स्लावों की तरह ग्रीक चर्च के ईसाई। जब तक मज़हब से प्रभावित होकर कोई जाति उसी के ऊपर अपने अलग व्यक्तित्व को क़ायम रखने के लिए डटी हुई है, तब तक भूत में यह मज़हब नहीं था, या भविष्य में नहीं रहेगा, इस बात को कह कर उस विचार को हटाया नहीं जा सकता और न हम वर्त्तमान समस्या को हल कर सकते हैं।

हमें यह मानने में कोई उज्र हो ही नहीं सकता कि हमारे देश के मुसलमान अपनी जातीयता में मज़हब को बहुत बड़ा स्थान देते हैं।

भौगोलिक स्थिति भी जातीयता का एक कारण होती है। इस पर हमें यहाँ ज़्यादा कहने की ज़रूरत नहीं।

संक्षेप में गाना, खाना, वेश को गौण समझकर हम उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। किन्तु भाषा, धर्म और भौगोलिक स्थिति को जातीय समस्या पर विचार करते हुए हम कभी छोड़ नहीं सकते। यह स्मरण रखना चाहिये कि एक मज़हब होने पर भी यदि भाषा भिन्न-भिन्न हुई तो अलग जाति का सवाल उठे बिना न रहेगा। उदाहरणार्थ—यदि हम पाकिस्तान को स्वीकार कर लेते हैं, तो भी सारे पाकिस्तानी एक जाति के नहीं हो जायेंगे, भाषा का सवाल वहाँ तीव्र उठेगा। अफ़ग़ानिस्तान के पठान शासक आज तक अपना सारा सरकारी काम-काज, पढ़ाई-लिखाई फ़ारसी में किया करते थे, लेकिन अब वहाँ पश्तो का ज़ोर है, और सरकार फ़ारसी का बड़े ज़ोर से बायकाट कर रही है, हालाँकि अफ़ग़ानिस्तान की प्रजा में पठानों के बाद सबसे बड़ी संख्या ताजिकों की है जिनकी मातृभाषा फ़ारसी है। सीमान्त प्रान्त के स्कूलों में पश्तो-द्वारा पढ़ाई शुरू हो गई है। मैं नहीं समझता हूँ कि सीमान्त के पठान कभी अपनी पश्तो छोड़ कर उर्दू को अपनी जातीय भाषा बनायेंगे। पूर्वी बंगाल—जो कि पाकिस्तान का दूसरा टुकड़ा होगा—भी अपनी समुन्नत मातृभाषा को छोड़ कर उर्दू को अपनायेगा इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। पंजाब में भी पंजाबी का सवाल उठ खड़ा हुआ है और सिन्ध तथा कश्मीर भी समय आने पर यह सवाल ज़रूर उठायेंगे। इस प्रकार पाकिस्तान भी कई स्वतन्त्र जातियों का संघ होगा, वह कभी एक जातीय देश नहीं रहेगा।

(२) जातियों की उत्पत्ति—वर्तमान समस्या पर विचार करते वक़्त हम धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकते, यह बतलाने के बाद भी

भारत में कैसे फिर हमें भाषा-वाली जातियों के पास ही जाना पड़ता है, इसका थोड़ा-सा ज़िक्र अभी हम कर चुके हैं। वस्तुतः जातीयता निर्भर ही है भाषा पर, फिर जातियों की उत्पत्ति पर विचार करते वक्त हमें भाषा की उत्पत्ति पर जाना पड़ेगा; जिसके भीतर बहुत दूर तक जाने पर हम अपने मुख्य विषय से दूर न हटते हुए भी बहुत विस्तार में चले जायेंगे। हम उत्तरीय भारत की किसी एक भाषा—ब्रज, अवधी, या मगही को ले लें, इसके बोलनेवाले यह ज़रूरी नहीं है, कि उस भाषा की तरह स्वयं भी हिन्दी-आर्यजाति के हों। ब्रज में वेदकाल (१५०० ई० पू०) से पहले कोई आर्य जन (कबीला) आया। वह खुद आर्य था और उसकी भाषा भी आर्य थी, किन्तु उस देश में बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थी, जो न स्वयं आर्य थे और न उनकी भाषा आर्य थी। सैकड़ों वर्षों तक एक साथ रहने में उनका इतना आपस में संमिश्रण हो गया कि आर्य जन की भाषा या उसकी पुत्री भाषा को सब लोगों ने अपना लिया और अनार्य भाषाएँ वहाँ से लुप्त हो गईं। भाषा भी समय के साथ बदलती रहती है, यह हम वैदिक, सौरसेनी, (ब्रज) प्राकृत, और आज की ब्रज भाषा से तुलना करके देख सकते हैं। अब हमारे किसी भी पुराने आर्य जनपद शुद्ध आर्य नहीं हैं, सभी मिश्रित हैं, और सब की भाषा से निकली कोई भाषा या बोली है।

इन पुराने जनपद की भाषाओं की ओर हमें इसलिए भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि किसी कारणवश खड़ी बोली जैसी कुरु जनपद (मेरठ कमिश्नरी, अलीगढ़ जिला छोड़ कर) की एक भाषा अब सारे उत्तरी भारत के अनेकों पुराने जनपदों की शिक्षा का माध्यम हो गई है, और उसे ही हम मातृभाषा का स्थान दिलाना चाहते हैं—अर्थात् ब्रज, बुन्देली, अवधी, बनारसी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, छत्तीसगढ़ी, भाषाओं को मातृभाषा से खारिज कराना चाहते हैं। प्राकृत युग में भी मगही, सौरसेनी, आदि भाषाओं की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई थी और अब हम यदि उससे उल्टा करना चाहते हैं, तो न यह उचित है

और न यह संभव है। इन लोक-भाषाओं की जड़ उससे कहीं दूर तक गई है, जितना कि हम समझते हैं।

बुद्ध से पहले जनपदों का युग था, उस वक्त हरएक जनपद (कुरु, पंचाल, कोसल, काशी, मगध) का व्यक्तित्व अपनी भाषा पर आधारित था और उसकी अपनी एक स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता भी थी। राजाओं ने राज्य विस्तार करते वक्त जनपदों की पृथक् सत्ता को तोड़ा, तो भी भाषा आदि का ख्याल इतना दृढ़ रहा, कि दो जनपद मिल कर एक बनने के लिए नहीं तैयार थे। काशी जनपद भी कोसल के भीतर चला गया; किन्तु कोसलराज प्रसेनजित् को काशीवालों का ख्याल करके बनारस में अपने छोटे भाई को काशिराज बना कर रखना पड़ा था। इन जनपदों की जातीयता के कारण अनेक जनपदों का एक स्थायी राज्य स्थापित नहीं हो पाता था। मौखरियों के वक्त (६०० ई०) से जयचन्द के गहरवार (१२०० ई०) वंश तक छः सौ वर्ष तक युक्तप्रांत और उत्तरीय बिहार के कितने ही भागों की राजधानी कन्नौज रही। इससे लाभ उठा कर वहाँ के शासकों ने अनेक पुराने जनपदों को तोड़ कनौजिया जाति स्थापित करनी चाही और इस तरह चाहा कि कन्नौज के राज्य में रहनेवाले अपने में कनौजिया का अभिमान करें। इस विचार की कुछ प्रगति हुई भी, जिसके कारण कि हम ब्राह्मण, अहीर, कान्दू, तथा कितनी ही और जातियों में कनौजिया की जातीय-भावना पाते हैं, किन्तु आख़िर में यह राष्ट्रीय जाति नहीं, बल्कि जातपाँत की एक छोटी चहारदिवारी बन कर रह गया, और जो ब्राह्मण, आहीर आदि जातियाँ अपने जाति के नाम पर अधिक विस्तृत थीं, वह और कई टुकड़ों में बँट गईं।

यहाँ इस बात के ज़िक्र करने का मतलब हमारा सिर्फ़ इतना ही है कि भाषा-मूलक जातियों को तोड़ कर राज्य-शासन के नाम पर एक जाति बनाने का प्रयत्न किसी समय उत्तरी भारत में हुआ था, जो असफल रहा, यद्यपि उसमें किसी एक भाषा को लादने की कोशिश न की गई थी, बल्कि संस्कृत जैसी एक अमातृभाषा को भाषा स्वीकृत किया गया था।

२—यूरोप [illegible] जा[illegible] की समस्या

मैंने भारतीय जातियों के बारे में कहते हुए बतलाया था कि भाषा और उस पर आश्रित जातीय भाव का आरम्भ उस वक्त हुआ, जबकि एक खून से सम्बन्ध रखने वाले कबीले किसी एक इलाके में बस गये। यूरोप में भी इस तरह के कबीले स्लाव, जर्मन आदि जातियों के भिन्न-भिन्न परिवार के रूप में जहाँ-तहाँ जाकर बसे। फिर समयान्तर में इनका संमिश्रण हुआ जिसके कारण कहीं कोई पुरानी भाषा छोड़ी गई और कहीं नई भाषा ली गई। जर्मनी में पूर्वी प्रशिया के लोग पहले स्लाव थे, आगे जर्मन प्रभाव से उन लोगों ने जर्मन भाषा स्वीकार की और फिर हिटलर के शुद्ध आर्य-संसार में इन भूतपूर्व स्लावों को जर्मन आर्य मान लिया गया। जैसे भी हो भाषा स्वीकृत हो जाने पर इतिहास के पिछले पन्नों को बहुत कम जगह उधेड़ने की कोशिश की जाती है। लेकिन आधुनिक युग में जिस जातीयता को पूरब में ही नहीं यूरोप में भी हम देख रहे हैं; उसका प्रादुर्भाव बहुत पुराना नहीं है।

(१) यूरोप में जातीयता का प्रादुर्भाव—सामन्तवादी भारत में जैसे राज-वंश की भक्ति के ऊपर लोगों की एकता कायम की जाती रही, वही बात सामन्तवादी यूरोप में भी थी। वस्तुतः उस युग में जनता की कोई गिनती न थी। राजा और उनके कृपा पात्र पुरोहित सब कुछ थे—इन पुरोहितों में भी बड़े-बड़े महन्त, राजाओं और सामन्तों के कनिष्ठ भ्राता हुआ करते थे। लेकिन सोलहवीं सदी में जब यूरोप के व्यापारियों ने दुनिया के समुद्रों को रौंदना शुरू किया और दुनिया के कोने-कोने की सम्पत्ति उनके पास जमा होने लगी, तो सामन्तों के सामने हाथ बाँध कर खड़े रहने वाले इन बनियों के दिल में भी अपनी शक्ति का ज्ञान होने लगा। ये बनिये अपने मुल्क में राज्य-शासन के अयोग्य समझे जाते थे, किन्तु इन्होंने सात समुन्दर पार लड़ाकू जातियों को दबा कर जब अपने

राज्य चलाने शुरू किये तो कौन कह सकता था कि सामन्त छोड़ दूसरा राज्य-शासन करना जानता ही नहीं।

१७५७ ई० में पलासी के युद्ध में एक बनिया क्लर्क ने अपनी तलवार का जौहर दिखलाया और भारत में अंग्रेज़ी राज्य की दृढ़ नीव क़ायम की। ऐसी ही बातें फ्रांस, हालैंड आदि दूसरे देशों की बनिया जमातों—कम्पनियों—ने भी कर दिखाया। यह हो नहीं सकता था कि यूरोप बनिया-वर्ग अपने देश के शासन में अधिकार पाने की माँग पेश न करता।

पलासी की लड़ाई के तीन साल बाद—१७६० ई० से पश्चिमी यूरोप में एक नया युग आरम्भ होता है, जिसे हम पूँजीवाद कहते हैं। इस युग में पहुँच कर बनिये सिर्फ़ कारीगरों के माल को एक देश से दूसरे देश में बेचने का ही काम नहीं करते, बल्कि मशीनों के नये आविष्कारों से फ़ायदा उठा अपने कारखाने खोलते हैं और उनकी बनी सस्ती चीज़ों को दुनिया की बजारों में पाट देते हैं। बनिया जमात अब और शक्ति-सम्पन्न पूँजीपति जमात में बदल जाती है; और शक्ति के अनुसार ही शासन अधिकार की माँग भी उसकी ज़ोरदार हो जाती है। इनकी आवाज़ को और ज़ोरदार बनाने के लिए सौभाग्य से उन्हें फ्रांस में वोल्टेयर और रूसो जैसे जबर्दस्त कलम के धनी मिल जाते हैं, जो सामन्तों के निरंकुश शासन के खिलाफ़ बगावत कर जनता के शासन का नारा बुलंद करते हैं। पूँजीपतियों ने जनता के शासन के नारे में शामिल होने से अपना बड़ा लाभ देखा; इसलिए सामन्ती निरंकुशता के खिलाफ़ होते जंग में वह अगुआ बने। वोल्टेयर और रूसो का देहान्त १७८८ ई० में हुआ। लेकिन उनकी क़लम निष्फल नहीं चली। ये तो इसी से साबित है कि १७९२ ई० में फ्रांस की क्रांति हुई। लुई का स्वेच्छाचारी शासन खत्म हुआ, और सारे यूरोप के राज्य सिंहासन हिलने लगे।

फ्रेंच क्रांति द्वारा जो जनता के शासन का नारा बुलंद हुआ, उसी के साथ जातीयता या राष्ट्रीयता की गूँज भी चारों तरफ़ होने लगी।

(२) मध्य यूरोप में जातीयता की लहर—पुराने रोमन साम्राज्य का ध्वंस करनेवाले जर्मन थे। इसीलिए उन्होंने अपने को रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी समझा। आस्ट्रिया का राजवंश हाब्सबुर्ग इसीलिए सारे यूरोप में हज़ार वर्षों तक बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, क्योंकि उसका पूर्वज रोमन-ध्वंसक जर्मन सरदार था। आस्ट्रियन साम्राज्य को पवित्र रोमन साम्राज्य भी इसी कारण से कहा समझा जाता था। हाब्सबुर्गों की एक बड़ी दिक़्क़त थी। एक तरफ़ परस्पर लड़ती तथा एक दूसरे से स्वतंत्र दो दर्जन से अधिक जर्मन रियासतों का वह नाम का सरदार था, दूसरी ओर चेक स्लावक् मगियार (हंगेरियन), रूथेनियन, रूमानियन, सर्बियन, क्रोशियन जैसे ग़ैर-जर्मन जातिवाले एक विशाल राज्य का शासक था, जिसमें जर्मन जातिवाले अस्ट्रिया प्रांत की जन संख्या बहुत कम थी। इस तरह पवित्र रोमन साम्राज्य मुख्यतः ग़ैर-जर्मन जातियों से मिलकर बना था। यूरोप में जातीयता का प्रश्न जब बहुत ज़बर्दस्त हो उठा तो अस्ट्रिया के सामने सवाल था कि या तो वह सारी जर्मन सरदारियों जिनमें प्रुशिया और बवेरिया जैसे काफ़ी शक्तिशाली राजा भी थे—को एक कर एक जर्मन जातीय राज्य क़ायम करे और उस जाति की ओर से अपने ग़ैर-जर्मन जातियों का शासन शोषण होने दे। अपनी जर्मन जाति के शक्तिशाली सामंतों को आपस में लड़ाये और आप उनसे उलझता रहे। लेकिन वह इसे नहीं चाहता था। १९वीं सदी के पूर्वार्ध में मेटरनिख जैसा कूटनीतिज्ञ हाब्सबुर्ग को मिला था, किन्तु उसकी सारी शक्ति अपने साम्राज्य के भीतर की ग़ैर-जर्मन जातियों के राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने में ख़र्च हुई। जो बात मेटरनिख से नहीं हुई, वह बिस्मार्क ने कर दिखाई। प्रुशिया को उसने एक दृढ़ ताक़त बनाया और जर्मन जाति के नाम पर अस्ट्रिया छोड़ सभी जर्मन सरदारियों को अपने साथकर उसने १८७० ई० में फ्रांस को ज़बर्दस्त शिकस्त दी, और उसके बाद शताब्दियों से चली आती नाम मेहावी जर्मन रियासती संघ को सजीव बना उसके द्वारा हाब्सबुर्ग वंश को हटा प्रुशिया के राजा को

सारी जर्मन रियासतों का कैसर या सम्राट निर्वाचित कराया, जो उस वंश में तीन पीढ़ियों तक रहा। १९३३ में हिटलर के आने तक जर्मन के भीतर एक जातीय शासन नहीं कायम हो सका था। अभी भी वहाँ २२ मुकुट-धर और उनकी स्वतंत्र सरकारें थीं। हिटलर ने आकर उन स्वतंत्र सरकारों को भी ख़त्म किया और आप सारी जर्मन जाति का कर्त्ता धर्ता बन गया। उसने जर्मन जाति के बिखरे टुकड़ों को मिलाने में ही संतोष नहीं किया, बल्कि वह अब सारी दुनिया के ऊपर अपने ख़ूनी शासन को लादना चाहता था। यहाँ यह बात तो साफ़ है कि हिटलर को जो इतनी सफलता हुई, उसमें जातीयता के भाव का कम हाथ नहीं था।

पवित्र रोमन साम्राज्य की अवस्था को उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब हम देखते हैं, तो मालूम होता है कि फ्रांस में उठी जातीयता की लहर पूर्वी यूरोप की ग़ैर-जर्मन जातियों में फैलने लगी थी। अस्ट्रियन साम्राज्य में सबसे अधिक लड़ाकू और साहसी थे हंगरी के मगियार। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में सबसे पहले उन्हीं में जातीयता की ज़बर्दस्त लहर उठी। लुई कोसुथ (१८०२-१८९४ ई०) राष्ट्रीयता की लहर का प्रधान नेता था। पवित्र साम्राज्य को मगियार सैनिकों की बड़ी ज़रूरत थी, लेकिन इस काम को वह मगियार सामंतों द्वारा कराया करता था, जोकि परम राजभक्त थे। कोसुथ ने अस्ट्रिया के निरंकुश शासन के खिलाफ अपनी जबर्दस्त क़लम और वाणी का इस्तेमाल किया। आंदोलन जंगल की आग की तरह हंगरी, और उससे बाहर की अस्ट्रियन प्रजा में फैलने लगा। कोसुथ को तीन साल के लिए जेल में भेज दिया गया, जहाँ से वह १८४० ई० में छूटा। लेकिन आन्दोलन बराबर बढ़ता ही गया। ३ मार्च १८४८ ई० के अपने एक व्याख्यान में उसने अस्ट्रियन शासन-व्यवस्था की ज़बर्दस्त आलोचना की। इस भाषण का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ और दस दिन बाद अस्ट्रिया की राजधानी वियना में विद्यार्थियों और मज़दूरों ने बलवा कर दिया, सड़कों में मोर्चाबंदी करके उन्होंने सरकारी सेना से लोहा लिया।

अस्ट्रिया के निरंकुश शासकों को हंगरी की माँग मंजूर करनी पड़ी।

कोसुथ के इस राष्ट्रीय आन्दोलन में अस्ट्रियन साम्राज्य में बसनेवाली सभी जातियों की जबर्दस्त सहानुभूति थी और उन्होंने इसमें मदद भी पहुँचाई थी। वह मगियारों को पथ-प्रदर्शक समझ कर इज़्ज़त करते थे और आशा रखते थे कि हंगरी सफल होने पर हमारे साथ ठीक बर्ताव करेगा। लेकिन जब हंगरी को राज्य-शक्ति मिल गई तो उसने अपने सहभागी जातियों—सर्बियन, क्रोशियन, रूमानियन को वह अधिकार देने से इन्कार कर दिया, जिसे कि उसने खुद वियना की सरकार के सामने पेश कर अभी प्राप्त किया था। दूसरी जातियाँ मगियारों से इतना ही चाहती थी कि उन्हें स्थानीय स्वायत्त शासन मिले, उनकी भाषा और जातीय रीति-रिवाज को सरकार की ओर से स्वीकृत किया जाय। किन्तु मगियार इन बातों को एक क्षण के लिए भी मानने के लिए तैयार नहीं थे। हंगरी में वे सिर्फ़ एक जाति—मगियार को मानने को तुले हुए थे। वह वैयक्तिक नागरिक समानता हरएक को देने को तैयार थे, किन्तु मगियार छोड़ किसी दूसरी जाति या भाषा को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरी जातियों को मगियार बनाने का काम जारी किया, और सारे स्कूलों और कचहरियों में सिर्फ़ मगियार भाषा का इस्तेमाल किया। अमेरिकन इतिहासज्ञ हज़ेन C. D. Hazen ने अपनी पुस्तक Modern European History, 1937 पृष्ठ ३०२-३०३ में लिखा है—

'The Magyars, though a minority of the whole people, had always been dominant...But the national feeling was strong and growing with Serbs, Croatians and Rumanians. These, in the summer of 1848, demanded of the Hungarian Diet much the same privileges which the Magyars had won for themselves from the Vienna Government. They wished local self-government and the recognition of their own language

and peculiar customs. To this the Magyars would not for a moment consent. They intended that there should be one nationality in Hungary--that of the Magyars. Individual civil equality should be granted to all the inhabitants of the kingdom of whatever race, but no separate or partly separate nations, and no other official language that their own...as a consequence, the bitterest race hatreds broke out...'

'The Magyars would not grant to others the fundamental right which they had long so stoutly asserted for themselves...They began, indeed, forthwith a policy of oprression, a policy of Magyarisation, of compressing all these various peoples into one common mould, of forcible assimilation...

'The Magyars insisted that the Magyar language should be taught in all the schools of Croatia and should be used in all official communications betwoen that province and the Central Government in Budapest.'

हङ्गरी की इस नीति और हमारे यहाँ के कितने ही राष्ट्रीय नेताओं के विचारों में बहुत समानता है, और वह दूसरी अल्पमत जातियों को वही स्वायत्त निर्णय का अधिकार देने के लिए नहीं तैयार हैं, जिनके लिए वे पिछले पचास वर्षों से लड़ते आये हैं।

(१) पूर्वी यूरोप में जातीयता की लहर—तुर्की में उन्नीसवीं सदी तक निरंकुश शासन रहा है और १६०२ की गर्मियों में ही सुलतान पार्लियामेन्टरी सरकार मानने के लिए मजबूर हुआ। अभी पिछली सदी के अंत तक सर्बिया, बुलगारिया आदि पर तुर्की के सुलतान की हुकूमत थी। यूरोप के जातीय आन्दोलन का प्रभाव तुर्की पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता था। सुलतान की सरकार ने आंदोलनकारियों को जेलों में भेजा, निर्वासित किया, किन्तु उससे वह दबा नहीं।

१९०८ में बिना ख़ूनख़राबी के तरुण तुर्कों ने जो क्रांति की, उसका प्रभाव तुर्की के भीतर की सभी जातियों—यूनानी सर्वियन, बुलगारियन, आर्मेनियन जैसे ईसाई, और अलबानियन, अरब, तुर्क जैसी मुसलमान जातियों—पर पड़ा और उन्होंने एक समान स्वागत किया। सभी जगह सभी लोगों ने ख़ुशी मनाई। उस वक़्त मालूम हुआ कि सभी तरह का जातीय और धार्मिक द्वेष हमेशा के लिए तुर्की से मिट जायगा। इस क्रांति ने साम्राज्य के भीतर सभी जातियों में ज़बर्दस्त भाईचारे का भाव पैदा किया।

[Modern European History pp. 556-7 'This revolution...was received with incredible enthusiasm throughout the entire breadth of the Sultan's dominions. Mohammedans & Christians, Greeks, Serbs, Bulgarians Albanians, Armenians, Turks all joined in jubilant celebration of the release from intolerable condition. The most astonishing feature was the complete subsidence of the racial & religious hatreds which had hitherto torn & ravaged the Empire from end to end. The revolution proved to be the most fraternal movement in modern history...' pp. 594-7. The very atmosphere was charged with the hope & the expectation that the reign of liberty equality, & fraternity was about to begin...]

जब तुर्कों को अपने आचरण से दिखलाना था कि क्रांति के जिन सिद्धान्तों के लिए वह लड़े थे उन्हें तुर्की के भीतर की दूसरी जातियों के साथ बर्ताव में भी मानेंगे। इनमें वे शुरू ही से फेल कर गये। स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व के सिद्धान्तों के प्रयोग करने की जगह उन्होंने सिर्फ़ एक तुर्क जाति की स्वेच्छाचारी हुकूमत और सर्वाधिकार को क़ायम रखा, और जनता के अधिकारों को बुरी तरह से दबाया। मुसलमानी शासक तुर्कों ने जैसे हो तैसे सारी शक्ति को अपने हाथ में रखने की कोशिश

की। पार्लियामेंट के पहले चुनाव में उन्होंने ऐसा तिकड़म लगाया कि बाक़ी सभी जातियों के मिलने पर भी उनका ही बहुमत रहे उन्होंने ईसाई, यूनानियों, तथा आर्मेनियनों, और मुसलमान अर्बों को राजनीतिक अधिकार में भागी बनाना नहीं चाहा। उनकी नीति थी कि सभी को तुर्क बना दिया जाय। अदन में ३० हज़ार आर्मेनियन ईसाइयों को मार डाला गया था, किन्तु उन्होंने अपराधियों को दण्ड देने की कोशिश नहीं की। उन्होंने पहले से प्राप्त धार्मिक अधिकारों को भी गैर-मुस्लिम धर्मों से छीनना चाहा। जिन अल्पमत जातियों का व्यापार में खास हाथ था उन्हें बायकाट और दूसरे तरीकों से मिटाना चाहा। मकदुनिया में मुसलमानों का अल्पमत था, उसे बहुमत बनाने के लिए उन्होंने दूसरी जगहों से मुसलमानों को मँगाकर बसाने की कोशिश की। [वहीं pp. 598-8. From the very beginning they failed ...Instead of seeking to apply the principles of liberty, equality and fraternity, they restored the autocratic government, to domination of a single race, to the ruthless suppression of therights of the people...In the very first election to Parliament they arranged affairs so that they would have a majority over all other racés combined. They did not intend to divide power with the Christian, Greeks & Armenians or the Mohammedan Arabs. Their policy was one of Turkification...they made no attempt to punish the perpetrators of the Adana massacres in which over thirty thousand Armenian Christians were slaugtered...They intended to suppress by force all religious privileges...They also alarmed & embittered by a commercial boycott... They sought to reinforce the Moslem elements of the population by bringing in Moslems from other regions...]

हिन्दू बहुमत से यदि भारतीय मुसलमानों को ख़तरा मालूम होता है तो ऊपर के उदाहरणों के देखने से उसे हम बिल्कुल निर्मूल नहीं कह सकते, ख़ासकर हिन्दू पूँजीपतियों और मध्यवित्त लोगों का जब तक शासन यन्त्रों पर अधिकार होने की सम्भावना है तब तक उनसे तुर्कों और मगियारों से ज़्यादा उदार होने की आशा नहीं की जा सकती।

३—जातियों के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता ज़रूरी

(१) शोषण का रोकना—स्वतन्त्रता का अर्थ पूँजीवादी राजनीतिज्ञ सभी देशों में गोलमोल रखना चाहते हैं, और अक्सर उनकी स्वतन्त्रता से मंशा होती है, आर्थिक शोषण की स्वतन्त्रता। भारतीय पूँजीपति किसी वक्त राजनीति, विशेषकर कांग्रेस की गर्म राजनीति से भड़कते थे, किन्तु जब उन्हें पता लगा कि कांग्रेस जिस स्वतन्त्रता के आंदोलन को चला रही है, उससे उनको फ़ायदा ही फ़ायदा है तो उन्होंने उससे सहानुभूति दिखलानी शुरू की और आज तो कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर उसी तरह बड़े-बड़े हिन्दू पूँजीपतियों के हाथ में है, जैसे इङ्गलैंड या अमेरिका के पूँजीपतियों के हाथ में वहाँ की सरकार है। स्वतन्त्रता के आंदोलन ने उनके उद्योग-धन्धे और व्यवसाय को कितना बढ़ाया है—इसे गत महायुद्ध से आज की भारतीय पूँजी की वृद्धि को देखने से हमें मालूम पड़ता है। कपड़ा लड़ाई से पहले मुश्किल से पाँचवाँ हिस्सा बनता था, किन्तु वर्त्तमान् युद्ध के आरम्भ होने से पहले अपने कपड़े का पाँचवाँ हिस्सा ही भारत विदेश से मँगाता था। चीनी जो पहले प्रायः सभी जावा और मोरिशस् से आती थी, वह अब हिन्दुस्तान में पैदा होती है; यही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान अपनी चीनी को अब बाहर भेज रहा है। इसी तरह के कितने ही और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में आ गये हैं और भारतीय पूँजीपतियों में भी सबसे बड़ी संख्या हिन्दुओं की है। कौन कह सकता है कि अखण्ड हिन्दुस्तान का नारा बुलन्द करने वाले हिन्दू पूँजीपतियों और उनकी वकालत करनेवालों के

मन में यह भाव नहीं काम कर रहा है, कि हम इस प्रकार मुसलमान बहुमत प्रांतों में भी उद्योग-धन्धों को अपने हाथ में रख कर शोषण को जारी रखें। मुस्लिम पाकिस्तानी नेताओं में भी आर्थिक शोषण का लालच बहुत ज्यादा काम कर रहा है यह हम मानते हैं, किन्तु इसकी वजह से मुस्लिम बहुमतवाले प्रान्त में हिन्दू पूँजीपतियों को खुले शोषण की छुट्टी दे दी जाय, यह कोई दलील नहीं है। अगर दरअसल इस पाकिस्तानी और पाकिस्तान विरोधी मनोवृत्तियों का विश्लेषण करें तो हमें मालूम होगा कि दोनों शोषण की सुविधा के लिए इन सवालों को उठा रहे हैं। तो भी शोषण को उठानेवाली क्रान्ति को लाने में हमें ज्यादा सुविधा होगी यदि हम जातियों की स्वतन्त्रता को स्वीकार करें, इसे हम कहने वाले हैं।

(२) प्रगति में बाधा को हटाना—मुस्लिम पूँजीपति सोचते हैं—अपने-अपने राजनीति के अधिकार-क्षेत्र में बड़े-बड़े पूँजीपतियों का अकंटक राज्य—इजारदारी—क़ायम हो जाता है जिसकी वजह से कोई नया पूँजीपति पनपने नहीं पाता। मुसलमानी पूँजीपतियों के नज़र से आधे दर्जन के करीब बड़े-बड़े हिन्दू-पूँजीपति परिवार आज बड़े-बड़े ट्रस्टों के रूप में परिणत हो चुके हैं और वह कितने ही अंशों में इंगलैण्ड और अमेरिका के करोड़पति ट्रस्टवालों के क़दम पर काफ़ी दूर तक जा चुके हैं। यह पूँजीपति परिवार अपने बैंक रखते हैं, उनकी अपनी बीमा कम्पनी है, कपड़ा, चीनी, क़ाग़ज़, जूट, तेल तथा दूसरी तरह की बड़ी-बड़ी मिलें उनके हाथों में हैं। सिर्फ़ न्याय की दुहाई देकर कोई छोटी पूँजी से इनके मुकाबले में अपने व्यवसाय को नहीं चला सकता। छोटी मछलियों को बड़ी मछलियों के पेट में जाते हम अक्सर देखते हैं। यह इजारेदारी किसी प्रांत की आर्थिक प्रगति को चंद बड़े पूँजीपतियों की कृपा पर छोड़ देती है, क्योंकि उनके मैदान में आये बिना नये उद्योग-धन्धे प्रति-द्वंदिता के कारण नहीं खोले जा सकते। जिन प्रान्तों में वहाँ की बहुमत जाति को इस तरह का डर है उन्हें उनकी मर्जी के खिलाफ इजारेदारी के चंगुल में फँसाना कभी उचित नहीं समझा जा सकता।

(३) धार्मिक तथा सांस्कृतिक भावों का ख़्याल—धार्मिक भावों के जोड़ने के कारण भारी राजनैतिक उलझनों का होना हम यूरोप में भी देख चुके हैं, और जब तक धार्मिक कट्टरता हमारे सामाजिक वातावरण को कलुषित और अशान्त करने में समर्थ है, तब तक उसकी तरफ़ से आँख मूँद कर हम एक जाति या अखंड हिन्दुस्तान की राग नहीं अलाप सकते। इसे कोई नहीं इन्कार कर सकता कि वर्तमान काल में धर्म सिवाय विद्वेष फैलाने के और कोई काम नहीं कर सकता है। धर्म के नाम पर भारत में हर साल पचासों जगह खून-खराबियाँ होती हैं। मस्जिद और बाजे का सवाल नरम पड़ने की जगह उग्र होता गया है। मैं मानता हूँ कि इन धार्मिक झगड़ों की तह में भी आर्थिक कारण और स्वार्थियों का लोभ काम कर रहा है। लेकिन उन आर्थिक कारणों को हटाना साम्प्रदायिक समझौते से भी ज्यादा असम्भव हमारे अधिकांश राष्ट्रीय नेताओं को मालूम होगा। शोषण उठाने की तो अलग बात, किसानों और मज़दूरों के हक़ में छोटे-मोटे क़ानूनी सुधारों के करने में हमारी राष्ट्रीय सरकारों ने अपने-अपने प्रान्तों में कैसा नग्न नृत्य किया यह हम सभी को याद है। इसलिए साम्प्रदायिक झगड़ों के मूल आर्थिक कारणों को हटाने की बात हम इन लोगों के सामने पेश नहीं कर सकते। और जब तक धर्म के नाम पर हम इस तरह के ज़बर्दस्त बिलगाव को देखते हैं तब तक पारस्परिक अविश्वास और सन्देह को हम मीठी-मीठी बातों और ऋषि-मुनियों, पीर पैगम्बरों की दुहाई देकर नहीं हल कर सकते। आज-कल की राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाने में नानक और कबीर के नुस्खे इस्तेमाल करने की कोशिश निरी आत्म-वञ्चना होगी। इसलिए यह भी ज़रूरी है कि जातियों को अपने-अपने बहुमत प्रान्तों में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(४) असली क्रान्ति में सहायता—भारत की एक नहीं हज़ारों समस्याएँ हैं—ग़रीबी, निरक्षरता, मिथ्या विश्वास, सामाजिक कुरूढ़ियाँ, जातपाँत, छूतछात, शिक्षितों-अशिक्षितों की बेकारी, सरकारी

नौकरियों के लिए जात-जात, धर्म-धर्म, प्रान्त-प्रान्त में तू-तू मैं मैं आदि-आदि। इन सब की दवा सिर्फ़ एक है, कि हमारी राजनैतिक आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि हमारी सरकार अपना पहला कर्त्तव्य समझे—सभी देशवासियों के खाने, कपड़े, मकान, दवा, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना। यह सब तभी हो सकता है जब कि केवल जनता की आवश्यकता और लाभ के लिए उद्योग-धन्धे चलाये जायँ। पूँजीवादी व्यवस्था दस, बीस परिवारों को भले ही करोड़पति बना दे, किन्तु वह साधारण जनता को भूख और बेकारी से त्राण नहीं दे सकती। इसे समझाने के लिए यहाँ ज्यादा नहीं कहना है।

जातियों की स्वतन्त्रता को स्वीकार करने से हमें एक बड़ी सहायता यह मिलती है कि वहाँ हमें अपने आर्थिक आन्दोलनों में सम्प्रदायवादियों के रोड़े अटकाने की कम ज़हमत उठानी पड़ेगी। मुसलमान बहुमत प्रान्त में मज़दूरों और किसानों के लिए लड़नेवाले अधिकतर उसी बहुमत से आयेंगे। वहाँ हिन्दुओं को डर दिखला कर मुसलमानों के नेतृत्व में चलने वाले किसान मज़दूर आन्दोलनों में साम्प्रदायिक फूट नहीं डाली जा सकती वहाँ 'इस्लाम खतरे में' 'हिन्दू धर्म खतरे में' का झूठा नारा लगा कर आर्थिक समस्याओं को ढँकने की कोशिश नहीं चल सकेगी।

४—पाकिस्तान और हिन्दुस्तान

आज-कल हमारे देश में पाकिस्तान, अखंड हिन्दुस्तान का सवाल बहुत ज़ोरों से उठा है। पाकिस्तान हिन्दुस्तानियों के शताब्दियों के उस निर्जीव जीवन का नतीजा है, जिसमें उन्होंने अपनी एक जाति बनाने के लिए प्रयत्न नहीं किया। आज बहुत से लोग पाकिस्तान के सवाल उठाने वालों को राष्ट्रीयता विरोधी विदेशी शासकों के चर बतला कर इस बड़े प्रश्न को फूँक कर उड़ा देना चाहते हैं। आइये, ज़रा इस पर ठंडे दिल से सोचें।

(१) हिन्दुओं की धर्मान्धता—कुछ हिन्दू इसके लिए मुसलमानों की धर्मान्धता की शिकायत करते हैं। वह समझते हैं कि हिन्दुओं में धर्मान्धता है ही नहीं एक हिन्दू मुसलमान के हाथ की रोटी, पानी या पान नहीं खा सकता, क्या यह उसकी धर्मान्धता नहीं है ? अभी दिल्ली के एक प्रतिष्ठित मुसलमान ने अख़बार में अपनी एक बात लिखी थी। दिल्ली में कहीं ठंडे पानी की एक हिन्दू पनशाला (प्याव) थी, गर्मी में प्यासे को ठंडे पानी की इच्छा होना स्वाभाविक है। उक्त सज्जन पनशाला के भीतर पानी पीने गये। 'उदार' हिन्दू ने उन्हें छत के नीचे से बाहर जाकर सड़क पर खड़े हो हाथ भर लकड़ी के लम्बे टोंटे से हाथ लगा कर पानी पीने को कहा। क्या कोई स्वाभिमानी आदमी इस अपमान को बर्दाश्त कर सकता है ? इसे जो हिन्दू धर्मान्धता नहीं कहता है वह कम से कम दुनिया की नज़र में सोचने की शक्ति खो चुका है। दिल्ली के इस पनशालेवाले अखंड हिन्दुस्तान में कोई स्वाभिमानी आदमी रहना पसंद नहीं करेगा, यह मानी हुई बात है। और इसके लिये यदि पाकिस्तान की मांग हो तो कोई ताज्जुब की बात नहीं है।

अखंड हिन्दुस्तान के लिए एक देश की तरह एक जाति की ज़रूरत है क्या किसी भी एक जातिवाले मुल्क में परस्पर खान-पान क्या, ब्याह शादी को भी निषिद्ध ठहराया जा सकता है ? शादी-ब्याह एक जातीयता स्थापित करने के लिए बहुत ज़रूरी है। मुसलमान शादी के बारे में उदार भी हो सकते हैं, लेकिन हिन्दू तो इसके ज़बर्दस्त विरोधी हैं। जब हमारे राष्ट्रीय नेतागण अपनी-अपनी कायस्थ, राजपूत, ब्राह्मण जाति के बाहर क़दम रखने के लिए तैयार नहीं हैं तो वह अखंड हिन्दुस्तान की एक जाति बना सकेंगे, इसकी आशा कम से कम इन नेताओं से नहीं की जा सकती। मिठाई, पूरी, सोडा वाटर, लेमनेड इस तरह की दूसरी खान-पान की अपनी दूकानें हिन्दुओं ने क़ायम कर रखी हैं। यह सीधा पैसा कमाने का ज़रिया है। हिन्दू मुसलमानों के खान-पान की दूकानों का पूर्ण बायकाट करते आ

रहे हैं; और अपने में तय कर चुके हैं कि हिन्दू इन्हीं दूकानों से चीज़ ख़रीदें। यह सब आज के राष्ट्रीय युग में हिन्दूधर्म के नाम पर कर रहे हैं। यह धर्मान्धता नहीं तो क्या है?

(२) भाषा की समस्या—भाषा अर्थात् 'हिन्दी-उर्दू' का झगड़ा सिर्फ़ बिहार, युक्तप्रांत, मध्यप्रांत, दिल्ली, पंजाब और कुछ रियासतों का है। इस झगड़े के सुलझाने को हमारे राष्ट्रीय नेता कोशिश कर रहे हैं; किन्तु 'बिच्छू का मन्त्र न जाने, साँप के बिल में अँगुली डाले' के नीति पर। हिन्दी-उर्दू के झगड़े के बीच में भी वही दो संस्कृतियों की टक्कर है, जिन्होंने कि इन दोनों भाषाओं को बिल्कुल भिन्न-भिन्न रास्ते पर विकसित किया। कुछ लोग कह रहे हैं कि हिन्दी-उर्दू की जगह हमें हिन्दुस्तानी को स्वीकार करना चाहिये। कितने लोग 'पञ्चों का फैसला सर माथे पर' कह हिन्दुस्तानी नाम को स्वीकार करने को तैयार हैं, लेकिन जब हम और आगे बढ़ते हैं तब यह सारी लीपा-पोती बेकार साबित होती है। यहाँ पहले हमें देखना यह है कि हम हिन्दुस्तानी के नाम से एक नई भाषा गढ़ना चाहते हैं, या पहले से मौजूद भाषा को लेते हैं। यदि पहले से मौजूद भाषा को लेते हैं, तो सौदा, ग़ालिब, इक़बाल की भाषा को सूर, तुलसी, प्रसाद और पन्त की भाषा के साथ किसी भी जादू-मन्तर से हम एक नहीं कर सकते। इन दोनों भाषाओं में समानता भी हो सकती है, किन्तु एक के ऊपर अधिकार हासिल करने के लिए जितना परिश्रम किया जाता है, वह दूसरे पर अधिकार करने के लिए सहायक नहीं होता। यदि हमारे राष्ट्रीय नेता विद्यमान भाषाओं की जगह नई भाषा गढ़ने के ख़ब्त में न पड़ते, तो ऐसी चेष्टा न करते। बिहार में हिन्दुस्तानी कमीटी ने अपनी हिन्दुस्तानी भाषा के लिए पारिभाषिक शब्दों की सूची तैयार करवायी। इस सूची से उर्दू वाले मुसलमान इसलिए नाराज़ हैं कि उसमें कितने ही संस्कृत के पारिभाषिक शब्द आये हैं; हिन्दी वाले हिन्दू इसलिए नाराज़ हैं कि उसमें बहुत-से अरबी के शब्द हैं। पारिभाषिक शब्दों की आज के वैज्ञानिक युग में

कितनी आवश्यकता है, इसे कहने की ज़रूरत नहीं। और पारिभाषिक शब्दों के चट्टान पर हिन्दुस्तानी की नैया चकनाचूर हो जाती है। हिन्दी-उर्दू के पुराने और आज के साहित्य को यदि आप ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि यह दो स्वतंत्र भाषाएँ हैं, एक मूल से पैदा होने पर भी इनका विकास इतना दूर तक अलग पथ पर हो चुका है कि उन्हें फिर उस मूल रूप में लौटाया नहीं जा सकता। (उदाहरणार्थ दार्शनिक साहित्य को ले लीजिये। हिन्दी वाले अपने दार्शनिक) ग्रन्थों में उपनिषद् काल (७००-६०० ईसा पूर्व) से लेकर आधुनिक काल तक बनते आये संस्कृत के विशाल दर्शन साहित्य से सहायता लेते हैं; वैसे ही जैसे गुजराती, मराठी, उड़िया, बँगलावाले भी। इसके विरुद्ध उर्दूवाले अपने दार्शनिक ग्रन्थों में उन अरबी पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार करते हैं जिन्हें कि फ़राबी और रोश्द ने अपने ग्रन्थों में इस्तेमाल किया है। साथ ही वह उन नयी परिभाषाओं को भी लेते हैं जिन्हें मिश्र, सीरिया, ईरान के आधुनिक अरबी साहित्य में प्रयुक्त किया गया है। ज्योतिष, वैद्यक के बारे में भी यही बात है। यह देखने से मालूम होता है कि दोनों में से किसी को अपनी पद्धति छोड़ने के लिए मजबूर करना उनके पुराने ऐतिहासिक विकास से इन्कार करना है।

हिंदी उर्दू को अलग भाषा में स्वीकार कर हम एक दूसरे के साहित्य परिचित होने के लिए रास्ता निकाल सकते हैं, और वह रास्ता हिन्दुस्तानी के ज़रिये नहीं बल्कि सीधे हिंदी या उर्दू के ज़रिये होना चाहिये। हज़ार-पाँच सौ समान शब्दों को जमा करके कोई भाषा आज के ज़माने में साहित्यिक भाषा नहीं बन सकती।

उर्दू के बारे में जब मुसलमान माँग पेश करते हैं, तो इसे साम्प्रदायिक मनोवृत्ति कह कर हम चुप नहीं करा सकते। जो भी एक भाषा को दूसरी भाषा पर लादने या विकृत करने की कोशिश करता है, वह साम्प्रदायिक मनोवृत्ति प्रदर्शित करता है।

(३) राष्ट्रीयता विरोधी होना—कितने ही अखण्ड

हिन्दुस्तान के पक्षपाती समझते और कहते देखे जाते हैं कि मुसलमानों में राष्ट्रीय भावों की कमी है। इसके लिए वह देश के लिए कुर्बान होनेवाले शहीदों तथा जेल-यात्रियों की सूची पेश करते हैं; और बतलाना चाहते हैं कि देश के नाम पर मुसलमान उतना प्राण-त्याग नहीं कर सकते। क्या इससे वह यह दिखलाना चाहते हैं कि मुसलमानों में प्राणों का मोह ज़्यादा है, अर्थात् वे कायर होते हैं, जिन्होंने साम्प्रदायिक दंगों को देखा है, उनको अच्छी तरह मालूम है कि मुसलमान प्राण देने में ज़्यादा निडर होते हैं। आज सिर्फ़ मजहबी बातों के लिए ऐसा करते हैं, कल वही बात राजनैतिक उद्देश्य के लिए भी करेंगे, जब कि पाकिस्तान में उनकी ज़रूरत पड़ेगी। पंजाब के खाकसारों, और सीमान्त के पठानों ने चलती गोलियों के सामने निर्भयता दिखला कर इस आक्षेप को बिल्कुल झूठा साबित कर दिया है।

कायरता ज़्यादातर उन लोगों में पाई जाती है जो खाना नहीं, कौड़ी-कौड़ी जमा करना जानते हैं, मुसलमान अपने खाने-पीने और शाहखर्ची के लिए बदनाम हैं। इस तरह कायर बनाने के कारण उनके पास ज़्यादा नहीं है। वस्तुतः कायरता थैलीवालों की अपनी चीज़ है।

(४) पाकिस्तान के अधिकार को इन्कार करना राजनीतिक दिवालियापन है—जन तंत्र के आधार पर स्वतंत्रता, आत्म-निर्णय के लिए माँग पेश करनेवाले कभी किसी प्रदेश को वहाँ की बहु-संख्यक जनता की इच्छा के विरुद्ध अपने साथ रखने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। हम सभी यह जानते हैं कि भारत के कितने ही भाग हैं, जहाँ मुसलमानों का बहुमत है, सिन्ध, बिलोचिस्तान, सीमान्त, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी काश्मीर यह सारा एक मिला हुआ टुकड़ा है, जहाँ मुसलमान बहुमत में हैं, यही बात पूर्वी बंगाल के बारे में है। अखंड हिन्दुस्तानवादी हिन्दू इन प्रांतों के निवासियों की इच्छा के विरुद्ध उन्हें अपने भीतर नहीं रख सकते। किसी भी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में वह अपने पक्ष में फैसला नहीं पा सकते। कितने ही लोग अब भी अलापते

जाते हैं कि, इन मुस्लिम प्रधान प्रांतों के लोग पूर्ण स्वातंत्र्य के अधिकार की माँग नहीं करते। आल इंडिया कांग्रेस कमीटी के प्रयागवाले अधिवेशन में हाल तक के हिन्दू सभा के एक सज्जन के अखंड हिन्दुस्तान पोषक प्रस्ताव को हिन्दुओं के वोट से पास करा कर वह समझते हैं कि मुस्लिम जनता भी उन्हीं की तरह सोचती है। लेकिन प्रयाग के अधिवेशन में दिये गये मुसलमानों के वोट और उसके बाद की मुसलमान नेताओं की सम्मतियों को यदि वह ध्यान से देखने का कष्ट उठावें, तो उन्हें साफ़ मालूम हो जायगा, कि हवा किस ओर बह रही है। अधिवेशन में ही पंजाब प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति मियाँ इफ्तिखारुद्दीन ने राजगोपालाचारी के प्रस्ताव के पक्ष में वोट दिया था। सीमान्त प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के प्रेसीडेन्ट ने अपने एक वक्तव्य में स्वातंत्र्य अधिकार का समर्थन किया। यही बात आज़ाद मुस्लिम कान्फ्रेंन्स—जिसमें जमीयतुल-उलमा, अहरार, आदि कितनी ही राष्ट्रीय विचारवाली संस्थाएँ शामिल हैं—के सेक्रेटरी ने भी की। मुस्लिम लीग पहले से ही अपनी नीति घोषित कर चुकी है। इस पर भी पाकिस्तान—या स्वतंत्र अधिकार की माँग को किस बिरते पर ठुकराते हैं। इस अधिकार की स्वीकृति के लिए हम ज़्यादा से ज़्यादा ये शर्त लगा सकते हैं कि आख़िरी फ़ैसला उस जगह के सार्वजनिक वोट पर छोड़ दिया जाये।

ग़ैर-मुस्लिम-लीग राष्ट्रीय मुसलमानों ने पाकिस्तान से सम्बन्ध रखनेवाली माँग पर जो अपने विचारों को स्पष्ट करके घोषित किया, उसका कारण यही है, कि वह मुस्लिम जनता को अपने साथ रखना चाहते हैं। अगर इस वक़्त वह इतनी भी स्पष्टवादिता न दिखलाते तो उन्हें मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का कोई अधिकार नहीं रहता है।

५—हिन्दुस्तान बहु-जातिक राष्ट्र है

पाकिस्तान और अखंड हिन्दुस्तान के हो-हल्ला के कारण लोग ख़याल करते हैं कि हिन्दुस्तान में सिर्फ़ इन दो जातियों के सिवा जातियों का

कोई सवाल ही नहीं है। लेकिन जैसा कि मैंने शुरू में कहा, जातियों का आधार है भाषा, इसलिए भारत में जितनी भाषाएँ हैं, आख़िर में हमें उतनी ही जातियाँ माननी पड़ेंगी। स्तालिन ने भारत की जातियों के बारे में एक जगह कहा है—

'यह कहने का दस्तूर हो गया है कि हिन्दुस्तान (की) गोया सिर्फ़ एक जाति है। किन्तु जब हिन्दुस्तान में क्रांति फूट निकलेगी, तो अब तक उपेक्षित बहुत-सी जातियाँ अपनी गुमनामी से बाहर प्रकट हो जायेंगी और उनमें से प्रत्येक अपनी ख़ुद की भाषा, और निजी विशेष जातीय संस्कृति के साथ आगे आयेंगी। जहाँ तक साधारण श्रमिक संस्कृति में भिन्न भिन्न जातियों के भाग लेने का सवाल है, उसके बारे में यह क़ाफ़ी निश्चित सा है, कि प्रत्येक जातीय भागीदार की भाषा और रीत रिवाज के अनुसार ही उसमें भाग लेना होगा।' (Leninism, I.P. 272)

(१) जातीयता का आधार—इसके बारे में हम पहले भी कह चुके हैं कि जातीयता के प्रश्न पर व्यवहारिक रूप से विचार करते वक़्त धर्म से भी ज़्यादा हमें भाषा को प्रधानता देनी होगी। यदि एक धर्म से एक जातीयता स्थापित हो जाती तो मिश्र, तुर्की, ईरान, अफ़गानिस्तान को हम एक जाति में बद्ध देखते; इसी तरह चीन, जापान, कोरिया को भी जातीयता के प्रश्न को कितनी बार लोग ढीले-ढाले तौर से लेने लगते हैं। पाकिस्तान में भी कुछ ऐसी बात पाई जाती है, यदि पाकिस्तान से मतलब एक जातिवाले देश से है। पाकिस्तान से मतलब यदि भारत के मुस्लिम प्रधान भूभागों से है तो वहाँ उसके पश्चिमी खंड ही में एक नहीं कम से कम ग्यारह जातियाँ होंगी, जिनकी भाषाएँ हैं—सिन्धी, बलोची, ब्राहुई, मुल्तानी, पश्चिमी पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, दरदी, बलती, बुरुशा और पूरब में पूर्वी बंगाल की अपनी एक जीवित भाषा है। इस प्रकार पाकिस्तान ग्यारह जातियों का एक जाति-संघ होगा। भाषा के प्रश्न को पाकिस्तान के नाम पर उड़ाया नहीं जा सकता, वैसे ही

जैसे कि अखण्ड हिन्दुस्तान के नाम पर मुसलमानों के स्वातंत्र्य अधिकार को। इसके लिए मैं पश्तो भाषा का उदाहरण दे चुका हूँ, जो कि सीमा-प्रांत की पाठशाला में शिक्षा का माध्यम बन चुकी है। पंजाब के मुसलमानों में भी पंजाबी का ख्याल ज़ोर पकड़ने लगा है, और वह दिन नज़दीक है जब कि पश्चिमी पाकिस्तान की सभी जातियाँ अपनी भाषाओं की माँग पेश करेंगी और उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा। वहाँ उर्दू सिर्फ़ अंतरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा रह जायेगी। पूर्वी बंगाल की सारी मुसलमान जनता को भी पाकिस्तान के नाम पर अपनी भाषा छोड़ कर उर्दू-भाषा भाषी नहीं बनाया जा सकता, साथ ही यह समझने की ग़लती नहीं करनी चाहिये कि पाकिस्तान में ग्यारह जातियों के होने से पाकिस्तान की माँग मुसलमान छोड़ देंगे। उस माँग का छोड़ना तो इस पर निर्भर है कि भारत के बहुमतवाले हिन्दू उनके साथ किस तरह का व्यवहार करते हैं, या करने की नियत दिखलाते हैं।

जैसे पाकिस्तान के कहने से एक-जातीयता का ख्याल ग़लत है, उसी तरह बिहार में आदिवासियों की एक जातीयता का ख्याल भी ग़ैर आदिवासियों के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए भले ही सहायक साबित हो, किन्तु भाषा के आधार पर जातीय प्रान्तों या प्रजातन्त्रों के बनते वक्त काम न देगा। उस वक्त मुंडा, उराँव, संथाल और हो, यह चार स्वायत्त प्रजातन्त्र बिहारी आदि वासियों के होंगे, जिनके अपने बहुमत क्षेत्र में अपनी ही भाषा, स्कूल, कचहरी, पार्लियामेंट में इस्तेमाल होनेवाली भाषा होगी।

जब हम जनता का शासन स्थापित करना चाहते हैं, और कहते हैं कि यह महायुद्ध जनता के शासन के लिए लड़ा जा रहा है; तब जनता को साक्षर और शिक्षित बनाना सबसे ज़रूरी काम हो जाता है; और वह भी कम से कम समय में, तथा सब से आसान तरीक़े से। जब हम इस पर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि जनता की शिक्षा का माध्यम

उसकी अपनी भाषा को ही रखना होगा। अपनी भाषा वह है जो कि माँ के दूध के साथ बच्चा सीखता है। जिस भाषा के व्याकरण को पुस्तक पढ़ कर सीखना पड़े वह आदमी की मातृ-भाषा नहीं है। जब हम माँ के दूध के साथ भाषा सीखते हैं तो उसके साथ ही साथ व्याकरण ख़ुद आता जाता है। व्याकरण भाषा का अभिन्न अंग है, वह पण्डितों के बनाने से नहीं बनता। यदि हम सोवियत् की वर्षों के भीतर चालीस करोड़ भारतीयों को साक्षर और शिक्षित बनाना चाहते हैं, तो हमें उनकी अपनी मातृ-भाषा को माध्यम बनाना होगा। पुस्तक, अख़बार, सिनेमा रेडियो से यह प्रचार बहुत जल्दी किया जा सकता है। ध्यान दीजिये नालंदा गाँव के एक लड़के की ओर, आज उसे सब कुछ हिन्दी में पढ़ना पड़ता है, अपनी भाषा मगही में नहीं। वह सात साल लगा करके हिन्दी मिडिल पास करता है, लेकिन न वह अख़बार समझ सकता है, न दूसरी साधारण साहित्यिक पुस्तकें। और जहाँ तक शुद्ध हिन्दी लिखने का सवाल है वह तो जब हमारे चौदह बरस के पढ़ुओं को भी सम्भव नहीं, तो हम उसके लिए उस लड़के से क्या आशा रख सकते हैं। मेरी बात में यदि विश्वास न हो तो आप आई० ए० बी० ए० के हिन्दी विद्यार्थियों की परीक्षा की कापियों को उठा कर देख लीजिये।

यदि हम हिन्दी को मागधों, मैथिलों, भोजपुरियों (मल्लों) की मातृ-भाषा ख़ामख़ाह बनाने का हठ न करें, और जो भाषा वस्तुतः उनकी मातृ-भाषा है, उसे शिक्षा का माध्यम बना दें तो सारा दृश्य ही बदल जाता है। किसी भी अनपढ़ किसान को तीन दिन में आप नागरी वर्ण-माला सिखा सकते हैं, और उसके बाद मगही, मैथिली, या भोजपुरी भाषा में छपी पुस्तक को सीधे आप उसके हाथ में थमा सकते हैं। महीने भर के भीतर वह उस पुस्तक को बड़े सर्राटे से पढ़ने लगेगा, समझने की बात तो सीखने के बाद ही ख़तम हो जाती है। लिखने में ह्रस्व दीर्घ की कहीं ग़लती भले ही हो जाय, लेकिन व्याकरण की ग़लती करना उसके बस के बाहर की बात है। गोया हिन्दी के लिए जो सात बरस,

और कुछ बातों में चौदह बरस में आप नहीं करा सकेंगे, वह यहाँ एक महीने में हो जाता है।

पुस्तक, अख़बार, रेडियो, सिनेमा के इन्तिज़ाम के लिए इन भाषाओं के बोलने-वालों की संख्या अपर्याप्त है, आप यह नहीं कह सकते। मगही बोलनेवालों की संख्या चालीस लाख के क़रीब है। भोजपुरी (मल्ली) भाषा-भाषी एक करोड़ से भी ज़्यादा हैं; इनके मुक़ाबले में पैंतीस लाख के फिनलैंड और दश लाख के अलबानियों के स्वतंत्र राष्ट्रों को ले लीजिये, जहाँ जनता की शिक्षा के लिए यह सभी साधन बरते जाते हैं। यदि हम युद्ध के बाद वस्तुतः जनता को स्वामी के रूप में देखना चाहते हैं, तो शिक्षा के इस मातृ-भाषा संबंधी साधन को इस्तेमाल करने में कोई हीलाहवाला नहीं कर सकते।

यह प्रश्न हो सकता है कि इन अलिखित बोलियों में डाक्टरी, इन्जीनियरी, साइंस, दर्शन आदि विषयों पर लिखने के लिए पारिभाषिक शब्द नहीं हैं। यह भी लचर दलील है। आख़िर जब हिन्दी भी अपने पारिभाषिक शब्द के लिए संस्कृत और दूसरी भाषाओं की मुहताज है, और हिन्दी पढ़ते-बिहारी लड़कों को दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह बरस में उसे सीखना पड़ता है, तो यह बोलियाँ भी उन्हीं पारिभाषिक शब्दों से लाभ उठा सकती हैं। स्मरण रखना चाहिये कि किसी दूसरी भाषा से उधार लिये शब्दों को अपनी मातृ भाषा में ले कर इस्तेमाल करना, और उन्हीं शब्दों को एक पराई भाषा के साथ मिलाकर याद करना, दोनों में लगने-वाले परिश्रम में बहुत अंतर पड़ता है। अपनी मातृ भाषा में केवल पारिभाषिक शब्दों को हमें समझना है, वहाँ व्याकरण मुहावरे आदि का झगड़ा नहीं है।

(२) सोवियत संघ में जातियाँ—ज़ारशाही सरकार की जगह रूस में जैसे ही जनता का शासन स्थापित हुआ, वैसे ही सोवियत् सरकार को जनता को साक्षर बनाने में शक्ति लगानी पड़ी। यदि सोवियत्

सरकार रूसी, अर्मेनियन, जार्जियन, तुर्की, जैसी आधे दर्जन से भी कम साहित्यिक भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम रखने की जिद करती तो शायद आज वहाँ चौथाई जनता भी साक्षर न बन पाती; और जो साक्षर होती भी वह दो दर्जा तक हिन्दी पढ़े बिहारियों की तरह की होती। सोवियत् ने तै किया कि जनता को हम नयी भाषा नहीं देने जा रहे हैं, भाषा उसके पास मौजूद है, हम उसे ज्ञान देंगे, जल्दी से जल्दी उनकी अपनी भाषा द्वारा। रूसी मध्य एशिया में किसी वक्त पढ़े-लिखे लोग अपनी मातृभाषा को गँवारू समझ साहित्यिक तुर्की को पढ़ते-लिखते थे। सोवियत् ने अब अपनी कसौटी पर उसे रखा तो मालूम हुआ कि वह वस्तुतः वहाँ की जनता की मातृ भाषा नहीं है, उसके व्याकरण को, उसके उच्चारण को, उसके मुहावरों को वर्षों की बड़ी मेहनत के बाद सीखना पड़ेगा। इसीलिए सोवियत् को साहित्यिक तुर्की का मोह छोड़ना पड़ा और उसकी जगह पाँच बोलियों को स्वीकार करना पड़ा—तुर्कमानी, कराकल्पकी, उज़्बेकी, किरगिजी, कज़ाकी; जिनमें कराकल्पकी के बोलनेवाले मुश्किल से पचास हज़ार होंगे। कज़ाकस्तान, किर्गिजिस्तान, उज़्बेकिस्तान, तुर्कमानिस्तान सोवियत् संघ के उन सोलह प्रजातन्त्रों में है जिन्हें संघ प्रजातन्त्र कहते हैं, और जो सोवियत् विधान के अनुसार जब चाहें तब सोवियत्-संघ से अलग हो सकते हैं।

सोवियत्-संघ में सौ से ऊपर जातियाँ हैं, और उनकी उतनी ही भाषाएं हैं। बहु-जातिक संघ होना सोवियत् अपने लिए शरम की बात नहीं समझती। सोवियत् जनता बल्कि समझती है कि इससे सोवियत् संस्कृति अधिक समृद्ध हुई है। आज इसका असर यहाँ हम साफ़ देखते हैं। सोवियत् के खानों में हर जाति के सुन्दर भोजन सम्मिलित सोवियत् की नृत्यकला जार्जियन, ताजिक, कज़ाक आदि नृत्यों को ले कर और समुन्नत हुई। सोवियत् सिनेमा को पूर्णता की ओर पहुँचाने में यहाँ की भिन्न जातियों के कलाकारों ने भारी काम किया है। सोवियत् साहित्य में भी भिन्न-भिन्न जातियों के कवियों के अनुवादों ने इसे और जीवित और सुन्दर बना

दिया है; इसके उदाहरण में सोवियत् के दो निरक्षर कवियों को ले लीजिये। सुलेमान स्तालस्की दागिस्तान (काकेशिया) का एक अनपढ़ किन्तु प्रतिभाशाली जन्म-जात कवि था। लाल क्रांति के पहले भी उसने बहुत-सी कविताएँ की थीं—पेगों (ज़मींदारों) मुल्लों, जारशाही कर्मचारियों के खिलाफ़ और दूसरी भी; लेकिन उस वक्त सुलेमान की गँवारू कविता की कोई क़द्र करनेवाला नहीं था। लाल क्रांति ने गुदड़ी के छिपे रत्न सुलेमान को बाहर निकल चमकने का मौक़ा दिया। सुलेमान ने और तत्परता से अपना काव्य-निर्माण जारी किया। दागिस्तानी भाषा अब गँवारू भाषा नहीं थी, अब वह एक स्वायत्त प्रजातंत्र की जातीय भाषा थी। वह स्कूलों में पढ़ाई जाती थी, कचहरियों का काम उसी में होता था, और अख़बार, किताबें उसमें छपती थीं। अब सुलेमान की कविताएँ गा कर हवा में उड़ा देने के लिए नहीं होती थीं, बल्कि वह दागिस्तानी पत्रों और पुस्तकों में छपती थीं। दागिस्तानी भाषा में सुलेमान की कवितायें कई जिल्दों में छप चुकी तो उनकी किसी कविता का रूसी अनुवाद गोर्की ने पढ़ा गोर्की चकित हो गया, उसने सुलेमान की कुछ और कविताओं के रूसी अनुवाद मँगा कर देखे। फिर गोर्की की प्रेरणा से सुलेमान की कविताएँ पाँच जिल्दों में रूसी भाषा और सोवियत् संघ की तेरह-चौदह और भाषाओं में छपीं। अनपढ़ सुलेमान की गणना आज और भविष्य के विश्व-कवियों में है। मरने के वक्त सुलेमान सोवियत् पार्लियामेंट का निर्विरोध उम्मेदवार था; किन्तु निर्वाचन के दिन (६ दिसम्बर १९३८) से दो चार दिन पहले उसकी मृत्यु हो गई।

निरक्षर कज़ाक कवि जुम्बल की कविता-साधना सुलेमान स्तालस्की की तरह है। लाल क्रांति के वक्त ही वह बुढ़ापे में पहुँच गया था, लेकिन तो भी उसे अपनी प्रतिभाका जौहर दिखलाने का मौक़ा मिला। स्तालस्की और जुम्बल की मातृ-भाषा को गँवारू कह कर उपेक्षित किया गया होता, तो संसार इन अद्भुत कवि प्रतिभाओं से वंचित रह जाता। हमारे

यहाँ भी सदियों से कितने ही स्तालस्की और जुम्बल उपेक्षित हो रहे हैं। जनता के शासन में ऐसी प्रतिभाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सोवियत् ने भाषा के आधार पर जातीय प्रजातंत्र को संगठित कर हमारे लिए एक बहुत जबर्दस्त उदाहरण रखा है, और अपनी जातीय समस्याओं को हल करने के लिए हमें उसी रास्ते पर चलना होगा।

(३) भारत की जातियाँ—मैंने जातियों की पहिचान के लिए मातृभाषा की कसौटी बतलाई, और मातृभाषा वही कही जा सकती है जिसके व्याकरण को पढ़ने की ज़रूरत न हो। अब इस कसौटी को लेकर हमें भारत में घूमना चाहिये। साथ ही जब तक भारतीय मुसलमान अपने बहुमतवाले प्रांतों को हिन्दुओंवाले प्रांतों से अलग करने के लिए तुले हुए हैं तब तक उनकी माँग को हम ठुकरा नहीं सकते। यह भी ख़्याल करना चाहिये। इस तरह देखने पर जैसा कि पहले मैंने लिखा, पश्चिमी पाकिस्तान में नौ-दस और पूर्वी पाकिस्तान में एक—पूर्व बंग—यह ग्यारह प्रान्त या प्रजातंत्र होंगे। पाकिस्तान की स्कीमों में जो हैदराबाद, लखनऊ, आंध्र के कुछ ज़िले आदि बहुत बढ़ा-चढ़ा करके नक़्शे बनाये जा रहे हैं, वह सिर्फ़ ख़्याली पुलाव है। कोई भी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ग़ैरमुस्लिम बहुमतवाले प्रदेशों को मुस्लिम पाकिस्तान में देने का निर्णय नहीं दे सकता। जहाँ जन-संख्या इतनी क़रीब-क़रीब है कि बहुमत मानने में झगड़ा होगा, वहाँ सभी निवासियों के बालिग़ स्त्री, पुरुषों के वोट पर फैसला रखा जा सकता है।

अब हम सारे भारत की जातियों के अनुसार उनको नये प्रान्तों या प्रजातन्त्रों में बाँटते हैं। हमारी सूची अभी अपूर्ण है, भाषाएँ इससे और ज़्यादा हो सकती हैं।

१—बिहार (१) मल्ल (भोजपुरी भाषा-भाषी)—चम्पारन, सारन, शाहाबाद (युक्तप्रान्त में गोरखपुर की देवरिया तहसील, गोरखपुर, बलिया, आजमगढ़ और गाजीपुर ज़िलों के भाग।)

(२) वज्जी—पश्चिमी मुज़फ्फरपुर ज़िला ।

(३) वि.ह (मैथिली)—दर्भंगा जिला, चम्पारन, भागलपुर, पूर्णिया ज़िले का कुछ भाग ।

(४) अंग (छिकाछि की भाषा)—भागलपुर, मुंगेर और पूर्णिया के कुछ भाग ।

(५)—मगध, पटना, गया, तथा हज़ारीबाग, मुंगेर ज़िलों के कुछ भाग ।

(६) मुंडा—
(७) ओरांव
(८) हो　} (छोटा नागपुर)

(९) संथाल—संथाल परगना ।

(१०) राढ़ (पश्चिमी बंगा)—मानभूमि, सिंहभूमि । दूसरे प्रान्तों के प्रजातन्त्रों के सिर्फ़ नाम भर दे देता हूँ ।

२—युक्तप्रान्त—मल्ल,* (१) काशी, (२) दक्षिणी अवध, (३) उत्तरी अवध, (४) उत्तरी ब्रज, (५) पश्चिमी ब्रज, (६) पूर्वी कुरु (खड़ी बोली,) (७) बुन्देलखण्ड, (८) कूर्मांचल (पूर्वी पहाड़ी) ।

३—मध्यप्रान्त—(१) चेदी (जबलपुरी), (२) दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़ी), (३) गोंड, (४) नीमाड़, (५) मालव, (६) बघेलखंड, (७) उत्तर महाराष्ट्र, बुन्देलखण्ड ।

४—राजपूताना—(१) मेवाड़, (२) मारवाड़, (३) मेरवाड़ ।

५—देहली—(१) पश्चिम कुरु (हरियानी) ।

६—पंजाब—पश्चिमी कुरु (१) पूर्वी पंजाब, (२) पश्चिमी पंजाब, (३) पश्चिमी हिमालय (पश्चिमी पहाड़ी), (४) कनौर, (५) स्पिती, (६) लाहुल ।

---

*दुहराये प्रान्तों का नम्बर नहीं दिया गया ।

७—कश्मीर—(१) जम्मू, (२) लदाख, (३) बल्तिस्तान, (४) दरदस्तान, (५) हुंजा, (६) कश्मीर।

८—सीमा प्रान्त—(१) पश्तो।

९—बलोचिस्तान—(१) बलोचिस्तान. (२) ब्रहुई।

१०—सिन्ध—(१) सिन्ध

११—बम्बई (१) कच्छ, (२) सौराष्ट्र (काठियावाड़ी), (३) गुजरात, (४) दक्षिण महाराष्ट्र, (५) कोंकण, (६) कर्नाटक, (७) दकिनी भाषा (बिखरे)

१२—मद्रास—कर्नाटक, (१) तुलू, (२) कुर्ग, (३) केरल, (४) तामिलनाड, (५) आंध्र।

१३—ओड़ीसा—(१) उत्कल।

१४—बंगाल—राढ़ (पश्चिमी बंग), (१) मध्यबंग (२) पूर्वबंग, (३) चट्टग्राम, (४) लेपचा, गोर्खा, शर्बा, (५) कोच।

१५—आसाम—पूर्वबंग (१) आसाम, (२) नागा, (३) गारो, (४) खासी, (५) जयन्तिया, (६) मनीपुर, (७) मिरी।

१६—(१) भूटान

१७—नेपाल—(१) गोर्खा, (२) नेवार, (३) तमंग, (४) थारू, (५) शर्बा

१८—अन्तर्प्रान्तीय भाषाएँ—(१) हिन्दी, (२) उर्दू, (३) इंग्लिश।

इस प्रकार कुल ७३ जातियाँ होती हैं।

हिन्दी बोली में लेने पर मेरठ कमिश्नरी की भाषा है, साहित्यिक हिन्दी, उर्दू किसी एक प्रदेश की भाषाएँ नहीं हैं, यह खास-खास शहरों में और उनमें भी कितने ही परिवारों में बोली जाती हैं; साथ ही इन्हें

अन्तर्प्रान्तीय भाषा के तौर पर इस्तेमाल किया जा रहा है और आगे भी किया जायेगा। जहाँ तक इनकी अन्तर्प्रान्तीयता का सवाल है, मुस्लिम-प्रधान प्रान्तों में उर्दू अन्तर्प्रान्तीय-प्रधान भाषा होगी, और बाक़ी प्रान्तों में हिन्दी। इन भाषाओं के बोलनेवालों के हर जगह विशेष स्कूल क़ायम करने होंगे।

लाखों की तादाद में ऐंग्लो-इण्डियन और दूसरे भी अंग्रेजी भाषा बोलते हैं। यद्यपि इनकी आबादी सारे भारत में बिखरी हुई है, तो भी हर जगह उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए अंग्रेजी भाषा के स्कूलों का प्रबन्ध करना होगा।

भारतीय संघ की किसी भाषा के बोलनेवाले लोग बिखरे तौर पर भी जहाँ कहीं रहते होंगे, उनके बच्चों के पढ़ने के लिए वहाँ ख़ास स्कूलों का इन्तजाम करना होगा, जिसमें कि वह अपनी भाषा में पढ़ाई कर सकें।

विश्वविद्यालय के उच्च श्रेणियों की पढ़ाई के लिए पुस्तक आदि के प्रबन्ध करने में पढ़नेवालों की संख्या कम रहने पर कुछ दिक़्क़त होगी, जिसे धीरे-धीरे हटाया जा सकता है; विद्यार्थी समीप की किसी उन्नत भाषा की पुस्तकों के द्वारा पढ़ाई करके उत्तर वह अपनी भाषा में दे सकते हैं। लेकिन ऐसी दिक़्क़त ऐसी ही भाषाओं के लिए हो सकती है जिनके बोलनेवाले लोग लाख भी नहीं हों।

मातृ-भाषाओं की समस्या

मातृ-भाषाओं के बारे में कहने से पहले हिन्दी के बारे में हम अपनी स्थिति साफ़ कर देना चाहते हैं क्योंकि इसको ही लेकर कितने भाई बेसमझे तरह-तरह की कल्पनायें उड़ाने लगते हैं। आज के युग ने जहाँ भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी जातियों को आत्मचेतना प्रदान की है, ज्ञान के प्रसार को बढ़ाया है। वहाँ साथ ही साथ उन भिन्न-भिन्न जातियों को एक दूसरे के बिल्कुल निकट कर दिया। रेलों-जहाजों विमानों ने देशों की दूरियों को शून्य-सा बना दिया है, और आज भिन्न-भिन्न देशों के---प्रान्तों के व्यक्ति उसी तरह एक दूसरे के पास आने, रहने का मौका पाते हैं जितना कि किसी पड़ोसी गाँवों और मुहल्लों के लोग। आज कलकत्ता-बम्बई-कानपुर-अहमदाबाद-जमशेदपुर जमालपुर जैसे कल-कारखानोंवाले शहरों को देखने से मालूम होता है, कि किस तरह वहाँ के भिन्न प्रान्तों के मजूर-मजूरिनें एक जगह रह एक ग्राम के वासी बन गये हैं, जिसके कारण वह आपस में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को समझने ही नहीं लगे हैं, बल्कि वह सरल हिन्दी का इस्तेमाल भी करते हैं। आज के युग में सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को न समझना वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात होगी इसीलिए हिन्दी के सम्मिलित साझे की भाषा होने से हम इन्कार नहीं कर सकते।

रोज़ के आपसी वार्तालाप की तरह साहित्यिक दानादान के साधन के तौर पर भी भारत में हिन्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, और रहेगा यह भी मानना पड़ेगा। इसलिए हिन्दी साहित्य के प्रचार और विस्तार की हम किसी से कम कामना नहीं करते, बल्कि इस बात

के तो हम और भी जबर्दस्त पक्षपाती हैं, यही कौरवी सम्बन्धी हमारे विचारों से मालूम होगा।

हम तो सिर्फ़ इतना ही चाहते हैं कि लोग इस बात को स्वीकार करें कि मेरठ कमिश्नरी (कुरु जनपद) के पौने चार ज़िलों को छोड़कर बाक़ी लोगों की अपनी निजी मातृ-भाषायें हैं। यदि आप इस बात को मान लेते हैं तो आगे का काम बिल्कुल सरल हो जाता है। पांचाली (रुहेल-खण्डी) ब्रज (शौरसेनी), बुन्देलखण्डी (दाशार्णी), बघेलखण्डी (चेदिका) बारसी (दक्षिण अवधी), काशिका (बनारसी मल्लिका) (भोजपुरी) आदि में से एक-एक के बोलनेवाले की संख्या लाखों नहीं करोड़-करोड़ तक पहुँचती हैं और ये इन लोगों की मातृ-भाषायें हैं। मातृ भाषा की हमारी परिभाषा है, जिनके बोलने में अनपढ़ से अनपढ़ आदमी और बच्चा तक भी व्याकरण की ग़लती नहीं कर सकें। आप बरसाने के पाँच वर्ष के बच्चे के सामने अपनी ब्रजभाषा को बोलें, बच्चे ने व्याकरण का नाम भी न सुना होगा, लेकिन यदि आप कहीं अशुद्ध बोलेंगे तो वह तुरन्त हँस पड़ेगा। बच्चे ने माँ के दूध के साथ अपनी मातृ भाषा और भाषा के साथ व्याकरण को अप्रयास सीखा है। आप इन भाषाओं को हिन्दी से अभिन्न नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो अवधी काशिका मल्लिका आदि भाषायें बोलने वाले मिडिल तक ही नहीं बी० ए० तक पढ़कर भी व्याकरण की भारी भूलें नहीं करते। मेरे इस कथन का सबूत ढूँढ़ना हो, मिडल तथा ऊपर तक के परीक्षार्थियों की प्रश्नोत्तर कापियाँ देख लें, अथवा स्वयं अपने रोज़ के तजुर्बे का ही इस्तेमाल करें। लहवास या मजबूरी से मामूली बातों को ग़लत-सलत, समझ-समझा लेने को आप भाषा की अभिन्नता नहीं कह सकते।

मानव जाति के आज तक के अर्जित तथा प्रतिदिन प्रतिक्षण बढ़ते विस्तृत ज्ञान-दर्शन, साइंस, राजनीति—के हम उत्तराधिकारी हैं और उस ज्ञान को प्राप्त करना तथा उसे काम में लाना हमारे जीवित रहने के लिए सबसे ज़रूरी शर्त है। यह ज्ञान सदा भाषा के लिबास में रहता है,

भाषा के माध्यम द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। प्रश्न है, क्या आप भाषा को जल्दी और आसानी से सिखलाना चाहते हैं? आप कहेंगे—हाँ। मगर आपकी यह 'हाँ' यहाँ बेकार है। क्योंकि आपका कहना है कि अवधी, काशिक मल्लिका (भोजपुरी) भाषा-भाषियों के सामने अपनी अजीब शर्तें पेश करते हैं—तुम लोग पहले आठ-आठ साल तक हिन्दी सीखो फिर तुम्हें ज्ञानमंदिर में प्रवेश करने का अधिकार होगा! मुश्किल तो यह है कि शहर के कुछ हिन्दीवाले तथा वर्षों के परिश्रम के बाद हिन्दी बोलनेवाले हमारे शिक्षित लोग गाँव के ग़रीबों की कठिनाइयों को ख्याल में बिल्कुल ही नहीं लाना चाहते।

मातृ-भाषाओं को ज्ञान का माध्यम बनाने से शिक्षा की प्रगति कितनी जल्दी हो सकती है इसका सुन्दर उदाहरण एशियाई रूस के तुर्कमान, उज़्बेक, किर्गीज़ कज़ाक आदि जातियाँ हैं। १९१७ ई० से पहले ये भारतीयों से भी अधिक पिछड़ी हुई थीं। ज़ारशाही चाहती ही न थी कि वे शिक्षित हों, इसलिए उसने स्कूलों में शिक्षा का माध्यम रूसी को बना रक्खा था। शहर के शिक्षित तरुण तुर्की (तुर्कों की साहित्य भाषा) को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। तुर्की, मध्य एशिया की इन जातियों की मातृ-भाषाओं के समीप पड़ती थी, फिर भी मातृ-भाषाओं का स्थान उसे कैसे मिलता? ज्ञान के आदान-प्रदान की क्षमता प्राप्त करने के लिए रूसी दस साल लेती थी तो तुर्की आठ साल। रूसीवाले और तुर्कीवाले जब मध्य-एशियाई जनता को पूर्ण रूप से, साक्षर तो क्या शिक्षित भी देखना नहीं चाहते थे। ऐसा जब हाल था तो मध्य-एशिया के जनपदों की मातृ-भाषाओं की ओर नज़र दौड़ाने की ज़रूरत ही क्या थी? मगर जब १९१७ ई० की रूसी जनक्रान्ति के लिए जनता को साक्षर तथा शिक्षित करना जिन्दगी और मौत का सवाल हो गया तो क्रान्ति के नायकों का ध्यान जन-भाषाओं की ओर गया। तुर्कमानी, उज़बकी, किर्गीजी और कज़ाकी—उस वक्त इन भाषाओं की न कोई लिपि थी न साहित्य था। इसके विपरीत रूसी और तुर्की साहित्य विशाल था।

लेकिन जनता के पथ-प्रदर्शक भली भाँति समझते थे कि सारी जनता को रूसी या तुर्की भाषा पर अधिकार करने के लिए मजबूर करना ठीक नहीं होगा; रूसी, तुर्की तथा दूसरी उन्नत भाषाओं में सुरक्षित ज्ञानराशि को तुर्कमानी आदि भाषाओं में बोलियों में उल्था करके जनता के सामने रखा जावे—यही अच्छा होगा उन्होंने ऐसा ही किया और आज पच्चीस साल बाद मध्य-एशिया की कैसी कायापलट हुई सो हमारे सामने है। जिस उजबकी भाषा में आज से पचीस साल पहले एक भी किताब न थी, आज वही ताशकंद विश्वविद्यालय के विविध कालेजों में शिक्षा का माध्यम है। उसमें अनेकों दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं। हजारों हजार पुस्तकें छपती हैं। कुछ जिद्दी बूढ़े-बूढ़ियों की बात छोड़ दीजिये उनके अलावा वहाँ एक भी अशिक्षित नहीं। साक्षरता प्रचार आन्दोलन सफल होकर वहाँ शिक्षा प्रचार आन्दोलन में परिणत हो गया है।

"मातृ-भाषा माई की जय" बोलवाकर हम लोगों को पागल नहीं बनाना चाहते। हम जब कोटि-कोटि जनता को चन्द सालों में साक्षर और शिक्षित करने की बात सोचते हैं तो साफ़ मालूम होता है कि—"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यदि विदेशी साम्राज्यवादियों की भाँति हम भी चन्द—सेठों बाबुओं को शिक्षित बनाकर उन्हें शासक होते देखना चाहते हैं और चाहते हैं कि नब्बे फ़ी सदी जनता अशिक्षित रहें—अपने शासकों की मनमानी में दखल न दें तो मातृ-भाषा छोड़ दूसरी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की शर्त बिल्कुल ठीक है। लेकिन, यह तो फिर भी स्मरण रखना होगा कि आज के कल-कारखानों के बारीक मशीनों को शिक्षित मजूर ही चला सकते हैं, आजकल के पेचीदा हथियारों को इस्तेमाल अशिक्षित सिपाही नहीं कर सकते।

कितने लोग सोचते हैं कि इन ग्रामीण बोलियों में सुंदर गीत, कहानियाँ, मुहावरे और लोकोक्तियाँ पाई जाती हैं; इन बोलियों के लिए मृत्यु का वारन्ट कट चुका है; इसलिए इनमें उपलब्ध साहित्यिक तथा भाषा तात्विक सामग्रियों को जल्दी-जल्दी जमा कर लेना चाहिए। उनकी दृष्टि में

मातृ-भाषाओं का बस इतना ही मूल्य है, वे उन्हें दया की पात्र समझते हैं मगर वे भारी भ्रम में हैं। ब्रजभाषा अंतिम साँस ले रही है? अवधी मरण शय्या पर लेटी हुई है? मैथिली सपना बनने जा रही है? जाकर पूछिये इन भाषाओं के बोलने वाले करोड़-करोड़ नर नारियों से, पूछिये सूर, तुलसी और विद्यापति से! और सूर तुलसी विद्यापति की मुँह देखी यदि करना चाहते हैं तो क्या मल्लिका (भोजपुरी) बुन्देली, बघेली, छत्तीसगढ़ी आदि को जीने का अनधिकारी समझते हैं? जाकर पूछिये तो सवा करोड़ मल्लों (भोजपुरियों) और चेकोस्लावाकिया तथा बेल्जियम जितनी जनसंख्या रखनेवाले बुन्देलों और बघेलों को? मौत का मनमाना वारन्ट निकालने की धृष्टता न कीजिये। यदि ये भाषायें (बोलियाँ) अब तक नहीं मरीं तो नज़दीक भविष्य में वे नाम शेष होने नहीं जा रहीं। उनके तुलसियों, सूरों और विद्यापतियों की क़दर अब तक आपने न की या उन्हें भुला दिया तो भी उनकी उर्वरता गई नहीं; ज्यों की त्यों है। भविष्य उनका है।

हम गीतों, कहानियों, मुहावरों के जमा करने के विरोधी नहीं, बल्कि ज़बर्दस्त समर्थक हैं। लेकिन, हम उन्हें म्यूजियम की निर्जीव वस्तुओं अथवा पिंजरा पोल की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही लूली-लँगड़ी गायों के रूप में नहीं देखते हम उन्हें देखना चाहते हैं जनपदीय भाषा के रूप में, यानी, लोगों में बोली जाती, कचहरियों में लिखी जाती, प्रायमरी पाठशालाओं से लेकर कालेजों विश्वविद्यालयों तक शिक्षा का माध्यम बनती—संक्षेप में, अपने घर में अपनी मालकिन बनते हम उन्हें देखना चाहते हैं। जनता की भाषायें जब घर की मालकिन बनेंगी, अपने घर को सँभालने का सामर्थ्य जनता में तभी आ सकता है।

मातृ-भाषाओं के माध्यम की बात करते ही लोग झट पूछ बैठते हैं—कहाँ हैं पाठ्य पुस्तकें? क्या लेकर काम शुरू होगा? कौन लिखेगा? प्रकाशक मिलेंगे? पारिभाषिक शब्द कहाँ से आयेंगे और इतनी बड़ी उलट-फेर करने का अधिकार उन्हें कौन देगा?

ये ही प्रश्न हैं, जो आम तौर पर लोग उठाते हैं जवाब के लिए बहुत माथापच्ची करने की ज़रूरत नहीं जिन रीडरों के पढ़ने-लिखनेवाले लाखों विद्यार्थी होवें उनकी तैयारी में कितनी देर लगेगी ! रही लेखकों की बात। मुझे यह भी आसान जँचती है। जो पूर्वी पहाड़ी (कुमाऊँ-गढ़वाल की बोली) पंत, इलाचन्द्र जोशी, हेमचंद जोशी, पहाड़ी जैसे लेखकों की मातृ-भाषा हो उसे भला लेखकों का अभाव होगा ? ब्रजभाषा लिखेंगे बनारसीदास चतुर्वेदी, हरिशंकर शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, गुलाबराय आदि बुन्देली लिखेंगे। मैथिलीशरण और सियारामशरण कौशली (उत्तरी अवधी) को, निराला, देवीदत्त शुक्ल जैसों की समर्थ लेखनी प्राप्त होगी, वात्सि (दक्षिणी अवधी) ज्योतिप्रसाद निर्मल और ठाकुर श्रीनाथसिंह की मातृ-भाषा है। काशिका (बनारसी) लिखेंगे चन्द्रबली पांडे, हरिऔध, विश्वनाथप्रसाद। मल्लिका (भोजपुरी) को अपने उदयनारायण तिवारी, शिवपूजन सहाय और मनोरंजनप्रसाद पर पूरा अधिकार है, मैथिली लिखेंगे अमरनाथ झा, राकेश, उमेश मिश्र। कौरवी वासुदेवशरण अग्रवाल की मातृ-भाषा है। इस तरह कोई भी ऐसा जनपद नहीं जहाँ दो-चार लेखक न मौजूद हो। जहाँ एक बार इस बात को आपने मान लिया कि मातृ-भाषायें शिक्षा का माध्यम हों लेखकों को पैदा करने की फ़िक्र में दुबले होने की ज़रूरत न रह जायगी—हिन्दी के अधिकांश लेखक ऐसे ही हैं जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं, बल्कि ब्रज, कौशली, काशिका, भोजपुरी आदि हैं। प्रकाशन की भी चिन्ता व्यर्थ है। प्रकाशक तो सैकड़ों की संख्या में आपके पीछे दौड़ते फिरेंगे। फिर प्रतियोगिता में मैट्रिक तक की पुस्तकों का तैयार हो जाना तो एक ही आध साल का काम है। पारिभाषिक शब्दों का अभाव तो हिन्दी में भी है। संस्कृत का शब्द भंडार मातृ-भाषाओं के लिए वैसा ही खुला है। जर्मन भाषा की भाँति हमारी मातृ-भाषायें भी अपनी-अपनी शब्दराशि में से हज़ारों पारिभाषिक शब्द गढ़ेंगी। उन्होंने कुछ गढ़ा भी है, जैसे—पाँवगाड़ी (बाइसकल), अग्निबोट (स्टीमर) आदि। छानबीन करने पर ऐसे-

ऐसे शब्द जनपदों में से हजारों अभी भी मिल सकते हैं। रेडियो, रेल, स्टेशन, टिकट आदि कितने ही अन्तर्राष्ट्रीय शब्द को वैसे ही लिया जा सकता है।

अपनी मातृ-भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का अधिकार हमारा वैसा ही जन्मसिद्ध अधिकार है, जैसा राजनैतिक स्वतंत्रता का। किसी भी प्रान्त की कोई भी राष्ट्रीयतावादी मिनिस्टरी यह काम कर सकती है। सीमा प्रान्त की कांग्रेस मिनिस्टरी ने 'पश्तो' को अपने प्राइमरी स्कूलों में माध्यम बना लिया। बुन्देलखण्ड में बुन्देली को, ब्रज में ब्रज-भाषा को, अवध में अवधी को कोई भी राष्ट्रीय मंत्रिमण्डल शिक्षा का माध्यम बना सकता है इनमें अंग्रेज महाप्रभु भला क्यों बाधा डालेंगे।

हमारे देश में प्रांतों का बँटवारा अभी तक शासकों के सुभीते के अनुसार हुआ था अब उसे जनता के सुभीते के अनुसार करना होगा। तीन प्रान्तों की जगह तीस प्रांत हो जाने में अंग्रेज प्रभुओं की आपत्ति के ख्याल से डर मत जायँ? क्या आप समझते हैं कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद ऐसा ही अक्षुण्ण रहेगा? सफ़ेद आइ-सी-एस वालों की चक्की के नीचे भारत क्या ऐसे ही पिसता रहेगा? अगर यह भी हो तो भी फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं क्योंकि तब तीन की जगह तीस, आई० सी० एस० वालों को लाट साहब बनने का मौक़ा मिलेगा।

हमें अपने इस विशाल देश को फिर से नये प्रांतों और जनपदों में बाँटना होगा। भारत की अखंडता मिट जाने का खेद यदि आपको हो रहा हो तो वह भी ठीक नहीं। आज ग्यारह प्रान्तों और छः सौ से ऊपर देशी राज्यों के रहते भी यदि भारत की अखंडता अक्षुण्ण रही तो उस वक्त भी इसकी गुंजायश रहेगी। अब बँगला, उड़िया, गुजराती, मराठी आदि को आप अखंडता के नारे से आत्म हत्या आत्म-गोपन करने के लिए तैयार नहीं कर सकते तो बेचारी ब्रजभाषा, बुन्देली, मल्लिका, मैथिली आदि जनभाषाओं से क्या अपराध बन पड़ा है? फिर, यह भाषायें क्या हमने स्वयं गढ़ी हैं? यह तो विश्व के विकास क्रम में स्वयं आकर

मौजूद हुई है, भावुकता के नाम पर नहीं, आपकी उपयोगिता के नाम पर ये जीने की माँग कर रही हैं।

हाँ, तो हिन्दी-उर्दू वाले प्रान्त—(पंजाब, सिंध, युक्तप्रान्त, बिहार तथा रियासतों को) निम्न जनपदों में बाँटना होगा :—

भाषा	जनपद	केन्द्र
१—हिन्दकी	पच्छिमी पंजाब	रावलपिंडी
२—मध्य पंजाबी	मध्य पञ्जाब	लाहौर
३—पूर्वी पञ्जाबी	पूर्व पञ्जाब	लुधियाना
४—सिन्धी	सिन्ध	कराँची
५—मुल्तानी	मुल्तान	मुल्तान
६—काश्मीरी	काश्मीर	श्रीनगर
७—पच्छिमी पहाड़ी	त्रिगर्त	कांगड़ा
८—हरियानी	हरियाना	दिल्ली
९—मारवाड़ी	मारवाड़	जोधपुर
१०—वैराटी	विराट	जयपुर
११—मेवाड़ी	मेवाड़	चित्तौड़
१२—मालवी	मालवा	उज्जैन
१३—बुन्देली	बुन्देलखंड	झाँसी
१४—व्रज	सूरसेन (?)	आगरा
१५—कौरवी	कुरु	मेरठ
१६—पंचाली	रुहेलखंड	बरेली
१७—गढ़वाली	गढ़वाल	श्रीनगर
१८—कूर्मांचली	कूर्मांचल (कुमाऊँ)	अलमोड़ा
१९—कोशली	कोशल	अवध लखनऊ
२०—वात्सी	वत्स	प्रयाग
२१—चेदिका	चेदी	जबलपुर
२२—बघेली	बघेलखंड	रीवाँ

२३—छत्तीसी	छत्तीसगढ़	बिलासपुर
२४—काशिका	काशी	बनारस
२५—मल्लिका (भोजपुरी)	मल्ल	छपरा
२६—वज्जिका	वज्जी	मुजफ्फरपुर
२७—मैथिली	विदेह (तिरहुत)	दरभंगा
२८—अंगिका	अंग	भागलपुर
२९—मागधी (मगही)	मगध	पटना
३०—संथाली	संथाल परगना	जसीडीह

इस सूची में भाषाओं और जनपदों के कुछ नाम और बढ़ाये जा सकते हैं। ग्रियर्सन का प्रयत्न आरम्भिक था, इसलिए उनके भाषा संबंधी क्षेत्र विभाजन भी आरम्भिक थे। उन्होंने भोजपुरी के भीतर ही काशिका (बनारसी) और मल्लिका दोनों को गिन लिया है जो व्यवहारतः बिलकुल ग़लत है। प्रान्तों के बँटवारे में जहाँ स्टेन्डर्ड भाषा का सवाल उठा कि सीधे छपरा और बनारस की बोलियों का दावा आपके सामने आयेगा और मल्ल तथा काशी जनपदों के निवासी, अपनी अपनी भाषाओं की अलग अलग सत्ता स्वीकार कराकर रहेंगे। प्रान्तों के पुनर्विभाजन के सम्बन्ध में यह मालूम होना चाहिये कि सवा करोड़ मल्लवासी (छपरा, बलिया, आरा, मोतिहारी, देवरिया, दिलदार नगर वाले) इसके लिये सबसे अधिक उतावले हैं। उनका प्रान्त बिहार तथा युक्तप्रान्त में बँटा हुआ है जिसमें युक्तप्रांत में उनके साथ का व्यवहार अच्छा नहीं कहा जा सकता। मातृ-भाषाओं और जनपदों की माँ उनके वास्तविक व्यक्तित्व के पृथक बल पर की जाती है। यहाँ न विकेन्द्रीकरण का सवाल है न बीस करोड़ की भारी भरकम संख्या के न सँभाल पाने का सवाल। बीस करोड़ क्या चालीस करोड़ भी एक मात्र भाषा-भाषी होते तो भी सिर्फ संख्या के भारी होने से उसे खंड-खण्ड करना उचित न होता। और विकेन्द्रीकरण? यहाँ तो वस्तुतः हम केन्द्रीकरण कर रहे हैं, जबकि हम भिन्न-भिन्न प्रांतों में बिखरे मल्लिका भाषियों (भोजपुरियों) को एक जनपद में संगठित

करते हैं; "कहीं की ईंट कहीं की रोड़ा—भानमती ने कुनबा जोड़ा" की जगह एक भाषा भाषियों को एक जनपद के रूप में केन्द्रित करते हैं।

सभी जनपदों (प्रांतों) के बीच राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक अंतर्प्रान्तीय भाषा की आवश्यकता अनिवार्य है, यह हम बतला चुके हैं। हिन्दी (फार्सी-अर्बी के शब्दों की भरमार के साथ यही उर्दू है) इस काम को आज कर रही है। भविष्य में तो यह काम उसे और करना होगा। हम पसन्द करेंगे कि प्राइमरी के आगे बढ़ने पर हरेक विद्यार्थी को हफ़्ते में दो-तीन घंटे हिन्दी का पढ़ना आवश्यक कर दिया जाय—ऊपर लिखे तीस जनपदों में हिन्दी को अनिवार्य द्वितीय भाषा मान लेने पर भी किसीको आपत्ति न होगी; किन्तु यह प्रश्न सारे भारत से सम्बंध रखेगा। बंगाल, आंध्र, द्रविड़, करेल, तामिल आदि में से किसी को आपत्ति भी हो सकती है, इसलिए अनिवार्य है करना न करना जनपदों के ऊपर छोड़ देना चाहिए। हिन्दी के द्वितीय भाषा के तौर पर प्रचार से कालेजों तथा उच्च खोजों की हिन्दी पुस्तकों का भली भाँति उपयोग हो सकेगा यद्यपि उसमें परीक्षार्थी को अपनी मातृ-भाषा में उत्तर देने की पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी।

तो क्या हिन्दी सिर्फ़ अंतर्प्रान्तीय भाषा है? नहीं, वह कितनों की मातृ-भाषा भी है, इसे युक्तप्रान्त के शहरों के रहने वाले पाठक अच्छी तरह जानते हैं। मातृ-भाषा को माध्यम स्वीकार करने का मतलब होगा मुरादाबाद, बरेली, आगरा, दिल्ली, लखनऊ, काशी, प्रयाग आदि शहरों के हिन्दी भाषा-भाषियों को अपनी मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने के लिए उन-उन जगहों पर विशेष स्कूलों का प्रबंध करना। सोवियत ने भी ऐसा ही किया है। वहाँ उस जनपद की राजकीय भाषा के तौर पर हिन्दी को नहीं स्वीकार किया जा सकता।

किन्तु एक बात और न भूलिये कि हिन्दी शहर के चन्द कामचोर सफ़ेद पोशों की ही मातृ-भाषा नहीं है, उसके बोलने वाले साधारण किसान-मजूर, कारीगर-मिस्त्री जन भी हैं जिनकी तादाद तीस लाख से

कम नहीं होगी; वह मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर के पूरे तीन जिलों, देहरादून के निचले तथा बुलन्द शहर के उत्तरी भाग—इन पौने चार जिलों के गाँवों की जन-भाषा है। हाँ, उसे आप "गँवारों की बोली" कह लीजिये लेकिन ध्यान रहे, अपनी गँवारी बोली के साथ साहित्यिक भाषा का अटूट सम्बन्ध बना रहना उतना ही आवश्यक है जितना शहरी बाबू लोगों का गाँव के कमेरों के साथ। इस सम्बन्ध में हमें जर्मन लेखक एल्बर्ट स्वाइट्ज़र के निम्नलिखित उद्गार पर ग़ौर करना चाहिये :—

"The difference between the two languages (The French and The German) as I feel it, I can best describe by saying that in French I seen to be strolling along the well-kept paths in a fine park, but in German to be wandering at will in a magnificent forest into literary German there flows continually new life from the dilects with which it has kept in touch. French has lost this ever fresh contact with soil. It is......something finished, while German in the same sense reminds something unfinished."

अर्थात् फ्रेंच और जर्मन-भाषाओं में जो भेद है, सो मुझे उपवन और वन के भेद की तरह लगता है। फ्रेंच भाषा एक ऐसा उद्यान है कि जिसमें टहलने के लिए सुनिश्चित रास्ते बने हुए हैं; वहाँ मैं सिर्फ उन्हीं रास्तों पर टहल-बोलकर सौन्दर्य का उपभोग कर सकता हूँ। परन्तु जर्मन भाषा एक जंगल की भाँति है जिसमें इच्छानुसार जिधर-तिधर में घूम सकता हूँ। जर्मनी की साहित्यिक भाषा सचेतन और जीवित है, वह प्रवाहमान है क्योंकि वह अपने देश की बोलियों से अविच्छिन्न संपर्क रखे हुए है। फ्रेंच में यह बात नहीं, वह धरती से अपना संपर्क छोड़ चुकी है, पूर्णता को प्राप्त हो गई है, जबकि जर्मन भाषा पूरे वेग से अभी भी गतिशील है। अविरत है, अपूर्ण है।

हिन्दी को अपनी असल भूमि के साथ सम्पर्क जोड़ना होगा। उसकी

अपनी जन्म-भूमि (कुरु-भूमि) ऊसर नहीं, महाउर्वर है। कौरवी के पास बिना गये न तो हिन्दी की कृत्रिमता हट सकती है और न संस्कृत या अर्बी-फ़ारसी से ऋण लेने की प्रवृत्ति से वह छुटकारा पा सकती है। आज हिन्दी को आमफहम (सहल) बनाने का नुस्खा हमारे नीम हकीम यही बतलाते हैं कि उर्दू में प्रयुक्त होने वाले कुछ अरबी फ़ारसी शब्दों ('आम' उर्दू है और 'फहम' फ़ारसी) को हिन्दी में ज़बर्दस्ती डाल लिया जाय। हिन्दी को उर्दू की ओर घुसका कर या उर्दू को हिन्दी की तरफ घुसकर सरल नहीं बनाया जा सकता, बल्कि उन दोनों को सरल बनाने का एक ही रास्ता है—वह है उनका अपनी जननी (कौरवी भाषा) के नज़दीक जाना। "अखण्ड हिन्दी" वादियों को भी मानना पड़ेगा कि आज हिन्दी उस जगह पहुँच गई है जहाँ अपने मूलस्रोत से सम्पर्क बनाये बिना उसकी अधूरी वर्णन शक्ति, अधूरे भाव-प्रकाशन को दूर नहीं किया जा सकता। आज मल्लाह, माँझी, लोहार, कुम्हार के सैकड़ों औजारों और क्रियाओं का वर्णन क्यों हमारे उपन्यास-कहानी लेखक क्यों नहीं करते? इसीलिए कि हिन्दी का सम्बन्ध अपने मूल स्रोत से नहीं है और वह महा-दरिद्र बनी हुई है। हिन्दी की यह दरिद्रता और दयनीयता तभी दूर होगी, जब वह अपनी जन्म-भूमि से सम्बन्ध जोड़ेगी।

मैं समझता हूँ कि हिन्दी के सम्बन्ध में एक पंचवार्षिक योजना इसलिए बनानी चाहिए कि कौरवी के अलिखित गीत, कविता, कहानी, कहावत, मुहावरों शिल्प-शब्दों का विस्तृत संग्रह किया जाये। हिन्दी के उपन्यास लेखकों को, कथाकारों को सामाजिक जीवन के चित्र खींचने वालों को, कुरु ज़िलों के गाँवों में चन्द मासों का प्रवास अपनी शिक्षा का अंग बनाना चाहिए।

मातृ-भाषाओं को उनका हक़ देते ही हिन्दी-उर्दू की समस्या हमारे यहाँ भी उसी तरह बेकार हो जायगी जिस तरह बंगाल में वह बेकार हो गई है।

पुनश्च:—

आजमगढ़ के श्री परमेश्वरीलाल गुप्त एक तरुण साहित्यिक हैं। उन्होंने अपने पड़ोस के एक अपढ़ कवि विश्राम की कविताओं (विरहों) पर एक लेख 'विशाल भारत' में लिखा था। मैंने इस कवि के बारे में कुछ और जानने के लिए उनके पास लिखा जिसके उत्तर में उन्होंने यह भी लिखा—"विश्राम के (न) पढ़े-लिखे होने से मेरा तात्पर्य अक्षर ज्ञान से था। इस प्रदेश में विश्राम सरीखे न जाने कितने कवियों ने ऐसे विरहे लिखे हैं जो किसी भी महाकवि की रचनाओं से टक्कर ले सकते हैं पर वे सब अज्ञात और उपेक्षित हैं। इस विषय में मैं थोड़ा प्रयत्न कर रहा हूँ। "शुकदूत" "दयाराम" "बनजरवा" "चनैनी" सरीखे कुछ काव्य और महाकाव्यों का पता लगा है, जो बिरहियों की जिह्वा पर है। उनका संकलन परिश्रम एवं व्ययसाध्य कार्य है। पर उसे तो शायद मैं कर लूँ, पर उनका प्रकाशन एक प्रश्न है। उपर्युक्त महाकाव्य—एक-एक ढाई सौ तीन सौ पृष्ठों से कम के न होंगे। भूमिका, व्याख्या आदि लेकर बहुत बड़े हो जायँगे। उन्हें प्रकाशित कौन करेगा? वैसे छोटे-छोटे लेख तो मैं लिखूँगा ही; पर बिना उसके प्रकाशन के भोजपुरी अथवा काशिका का साहित्य बंध्यात्व (?) कैसे दूर होगा। लोग इन भाषाओं को साहित्य की दृष्टि से निर्जीव समझते हैं। मैं आज-कल इस ओर थोड़ा प्रयत्नशील हूँ।"

परमेश्वरी बाबू के इस पत्र ने कई प्रश्न हमारे सामने रखे हैं, हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में नहीं, मातृ-भाषाओं के साहित्य के बारे में। काशी-का (बनारस सम्पूर्ण तथा मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़ के कितने ही भागों में बोली जाने वाली भाषा) भोजपुरी, अवधी, बुंदेलखंड आदि भाषाओं को ग्रामीण भाषा कहना बतलाता है कि लोग इनकी अहमियत को नहीं समझते। ग्रामीण का अर्थ है असभ्य, असंस्कृत, फूहड़ अथवा दयापात्र भिक्षुक भाषा। जिस वक्त, [सिर्फ अपनी ही भाषा बोल समझ सकने वाले] इन प्रान्तों के किसी आदमी को देखते हैं, तो हमारे शिक्षितों

के मन में यही भाव पैदा होता है। हमारे कितने ही उत्साही साहित्यिकों ने कितनी ही ग्रामीण गीतों को बड़े उत्साह के साथ संग्रह किया, मगर इस भाव से प्रेरित होकर कि इन ग्रामीण असंस्कृत अनामिका कविताओं को नष्ट नहीं होने देना। यह वैसा ही है जैसा कि पिछड़ी जङ्गली जातियों के म्युजियम निर्माण की चाह रखने वाले कितने ही मानव तत्त्व शास्त्री करते हैं। वह भूल जाते हैं कि यह भाषायें मृत नहीं जीवित हैं। यह अधिकार-च्युत हैं। शोषकों को हटा कर आज जनता को अधिकार प्राप्त हो जाने दीजिये, फिर देखिये कल ही यह भाषायें कितनी नागर, सभ्य और ललित दिखाई देने लगती हैं। जनता की राजनीतिक परतंत्रता को लोग जो सनातन—त्रिकालव्यापी मानते हैं, वह निराशावादी तथा म्युजियम निर्माता छोड़ और कुछ नहीं हो सकते।

हमारी निराशावादिता समझती है, यह भाषायें मरने जा रही हैं, इसलिए जल्दी करनी चाहिए, और मूल कारणों के बारे में माथापच्ची न करके जो रत्न चुन लिये जा सकें, उन्हें चुन लेना चाहिए। संग्रह के लिए जल्दी करनी ज़रूरी है, सुस्ती किसी काम में नहीं होनी चाहिए, मगर यह ख्याल करके नहीं कि यह भाषायें मरने जा रही हैं। इन भाषाओं का समय आ रहा है। इनकी सहायता के बिना शत-प्रतिशत जनता दस पाँच वर्षों में साक्षर शिक्षित नहीं हो सकती। कोई स्वतंत्र समझदार जाति पराई भाषा में आज के ज्ञान-विज्ञान के प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करेगी। माफ़ कीजिए यह कहने के लिए कि हिन्दी भी हम में से अधिकों की मातृ-भाषा नहीं, सीखी हुई भाषा है, और ऐसी सीखी कि चौदह वर्ष लगाने पर कितने ही बिहारी हिन्दी के व्याकरण पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। सोवियत मध्य एशिया ने उज्बेकी, तुर्कमानी, ताजिकी, किर्गिजी आदि अपनी "ग्रामीण" मातृ-भाषाओं को साहित्यिक भाषा बना, उससे अभूतपूर्व उन्नति करके हमारे लिये रास्ता दिखला दिया है।

हाँ यहाँ "अखंड युक्तप्रान्त" "अखण्ड बिहार" का सवाल उठाया

जा सकता है। मगर उसे स्वीकार करने का परिणाम ?—कभी भी सारी जनता को स्वल्प समय में शिक्षित न होने दिया जाये। परिणामतः अधिकांश लोग 'नागरिक' अधिकार से वंचित, 'ग्रामीण' बने रहें, और दूसरे—जोंकें उनके नाम से उनके ऊपर शासन करती रहें. एक भाषा-भाषी जनता का एक प्रान्त या प्रजातंत्र न बनने दिया जाये, जिसमें आन्तरिक झगड़े बर्करार रहें। नहीं, यह हर्गिज नहीं होने जा रहा है; भारत और संसार का अबकी बार स्वतंत्र होना इन भाषाओं के लिए भी कुछ मतलब रखता है, और वह यही कि इनके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया जाय—मल्ली (भोजपुरी) भाषा-भाषी आरा, छपरा, मोतीहारी, बलिया के सम्पूर्ण तथा गोरखपुर, आजमगढ़, गाजीपुर ज़िलों के कितने ही भागों को मिला कर एक अलग मल्ल प्रजातंत्र क़ायम किया जाये; काशिका (बनारसी) भाषा-भाषी बनारस आदि जिलों को मिला कर काशी प्रजातंत्र क़ायम किया जाये। यदि हर तरह से युक्त और न्याय इस योजना से 'अखण्ड बिहार' का नारा टकराता है, तो वह झूठा नारा है उससे बहुसंख्यक बिहारियों का ही नहीं, देश का भी कल्याण नहीं है, और ऐसे नारे को तिलांजलि देनी होगी।

फिर सवाल होता है, हिन्दी का। हिन्दी को हम अन्तर्प्रांतीय भाषा मान सकते हैं, पर वह हमारी मातृ-भाषा नहीं है, और उसे कभी किसी भी मातृ-भाषा को मार कर पूतना बनने का अधिकार नहीं है। हिन्दी भाषा को शिक्षित की कसौटी बनाना गलत है। मातृ-भाषाओं के अधिकार को स्वीकार कर लेने पर भी जनता-युग में हिन्दी को क्षति नहीं पहुँचेगी, उसके अनेक साहित्यिक तब भी दूसरे भाषा क्षेत्रों में पैदा होते रहेंगे। और क्षति हो भी तो हमें जनता के साकार लाभ को देखना है।

गुप्तजी ने अपने पत्र में विश्राम जैसे कितने ही विस्मृत कवियों का ख्याल करके, बहुत खेद प्रकट किया है। मगर यहाँ यह समझने की ग़लती नहीं करनी चाहिये कि इन विस्मृत कवियों की कविताएँ अकारथ

गईं। यदि उनकी कविता वास्तविक कविता रही, तो उसने अनेक हृदयों को झंकृत किया होगा, जिसके ही परिणाम स्वरूप नये विश्राम पैदा हुए और पैदा होते रहेंगे। हम आज पुस्तकों के छप जाने के कारण समझ लेते हैं कि अब यह कीर्ति चिरस्थायी हो गयी। मगर जिस वक्त हम उन पुस्तकों को भविष्य की दश शताब्दियाँ पार कर देखने की कोशिश करते हैं तो मालूम होता है कि इनमें बहुत के नाम भी उस वक्त तक बाक़ी न रह जावेंगे। फिर पुराने विश्रामों के ही लिए इतनी चिन्ता की आवश्यकता क्या? जिस अनामिका, कविता स्रोत ने विश्राम पैदा किया, वह सूखा नहीं है। विश्राम जैसे कवियों को पैदा करने वाली भाषा वंध्या नहीं हो सकती।

गुप्तजी ने संग्रह छपाने की दिक्कत पेश की। इसके लिए यही कहना होगा कि "सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्ना" थैली और शोषण का राज्य ख़त्म कीजिये, और सारी दिक्कतें दूर हो जाएँगी। दागिस्तान के निरक्षर कवि सुलेमान स्तालस्की को विश्वकवि कमकर क्रान्ति ने ही बनाया। यदि उस पर आशा और विश्वास नहीं है तो डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को भस्म कर डालिये, यदि वह इन संग्रहों के छपाने को अपनी शिक्षा-योजना में शामिल नहीं करते।

मातृ-भाषाओं के उत्साही सेवकों को मैं कहूँगा, वह अपने को अनाथ न समझें। भविष्य उनके ही हाथ में है। संग्रह का काम बहुत मुश्किल है। संग्रह करके उसकी दो प्रतियाँ आप लिख सकते हैं—प्रति तैयार करने में उस विषय के विशेष जानकारों के सलाह परामर्श से भी फायदा उठा लें। एक प्रति डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के पास भेज दें कि इसे छपवाइये, नहीं छापें तो जल्दी मशालों के जलूस का प्रबन्ध सारे भारत में करना होगा और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को सुधारना या मारना होगा।

प्रगतिशीलता का प्रश्न

प्रगतिशील साहित्य आज उस अवस्था से आगे बढ़ चुका है जबकि उसके प्रति मौन व्रत रख कर ही उसका गला घोंटा जा सकता हो। अब प्रगतिशीलता के खिलाफ़ काफ़ी और खुलकर लिखा जाता है। इस पर होनेवाले आक्षेप अधिकांश बे-जड़ मूल के और सिर्फ़ द्वेषवश हो सकते हैं, मगर कुछ ऐसे भी आक्षेप हैं जिन पर प्रगतिशील साहित्यिकों को ध्यान देना है, और अपने भीतर की कमज़ोरियों को हटाना है। कुछ समीक्षक कहते हैं कि प्रगतिशील लेखकों में अध्ययन और चिन्तन की गम्भीरता नहीं होती और वह सिर्फ़ नारे को ले उड़ना चाहते हैं। मगर जहाँ तक अध्ययन और चिन्तन की गम्भीरता का आक्षेप है; वह हिन्दी के दूसरे विचारवाले साहित्यिकों पर और भी ज्यादा हो सकता है, मगर प्रगतिशीलों को उनकी पंक्ति में अपने को रख कर बचने की कोशिश करना प्रगतिशीलता के लिए भारी बाधक होगा। प्रगतिशील वही हो सकता है जो कि आज से बीस या पचास बरस पहले नहीं, दस और पाँच बरस पहले भी नहीं बल्कि आज इस वक्त जो कुछ भी मानवता का ज्ञानभंडार बना है, बन रहा है, उससे पूरे तौर से आगाही रखता है। और यह काम ज़रूर मुश्किल है। लेकिन प्रगतिशीलता का रास्ता स्थितिशील—स्थिर—नहीं गतिशील है। जहाँ चलनेवाला, उसका रास्ता और सारी परिस्थिति नया-नया बदल रही हो, वहाँ राहगीर का काम कितना कठिन हो जाता है, इसे आसानी से समझा जा सकता है। इसलिए स्थिर पथ के अनुगामी साहित्यिकों की आँड़ में प्रगतिशील अपने को छिपा नहीं सकते। प्रगतिशीलता जीवन के हर एक अङ्ग—ज्ञान और कर्म दोनों—से सम्बन्ध रखती है और ज़रूरी है कि उनके प्रति प्रगतिशील साहित्यिक अपने दृष्टिकोण को साफ़-साफ़ समझें। बाज़ वक्त इस तरह की नासमझी से प्रगतिशीलता

को बहुत धक्का लगता है हाँ, दृष्टिकोण से ही मेरा मतलब है और वह भी गतिशील, स्थितिशील नहीं।

कितने ही लोग आक्षेप करते हैं कि प्रगतिशील तो हर चीज़ का ध्वंस, हर चीज़ का प्रतिषेध करने के लिए तुले हुए हैं और हर चीज़ से वह यह अर्थ लगाना चाहते हैं कि मानों प्रगतिशीलता बिना माँ-बाप के ऐसे ही अकस्मात् पैदा हो गई है। प्रगतिशीलता कभी अपने को अपनी पूर्वगामी संस्कृति-धारा की विरासत से महरूम नहीं कर सकती। यदि कोई प्रगतिशीलता के नाम पर हमारे पुराने अमर कलाकारों—वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाण, सरहपा, जायसी, सूर, तुलसी से लेकर प्रेमचन्द और प्रसाद तक—से हाथ धो लेना अपना कर्त्तव्य समझता हो तो यह प्रगतिशीलता नहीं है। एंगेल्स ने जर्मन प्रोफ़ेसर डूरिंग के इसी तरह के ऊटपटाँग विचारों की खबर लेते हुए कहा था कि अब गेटे और दूसरे महान् कवि तो ख़त्म कर दिये जायँगे, क्योंकि वह डूरिंग के "समाजवादी" युग में पैदा नहीं हुए और डूरिंग साहब उनकी जगह नये गेटे को पैदा नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान में भी हमारे अपने गेटे, वर्जिल और शेक्सपियर हैं, प्रगतिशीलता के नाम पर उनको अपमानित और स्थानच्युत करने का प्रयास एक पागलपन या लड़कपन के सिवा और कुछ नहीं है। प्रगतिशीलता तो बल्कि यह चाहती है कि आज जो हमारे उन कलाकारों को जनता के इतने कम लोग जानते हैं, उस कमी को दूर करके उन्हें सर्वसाधारण के हृदय में बिठाया जाय। रूस के प्रगतिशील लेखकों ने पिछले पचीस सालों में ऐसा करके दिखला दिया है। शेक्स-पियर इंगलैंड का नहीं सारे विश्व का महान् नाट्यकार है। उसकी तीसरी शताब्दी इन लड़ाई के दिनों में जहाँ सोवियत रूस में इतनी धूमधाम से मनाई गई थी वहाँ शेक्सपियर की जन्मभूमि इंगलैंड को इसका पता तक नहीं था। यह उदाहरण बतलाता है कि प्रगतिशीलता का अपनी और दूसरी संस्कृतियों के प्राचीन प्रकाश-स्तम्भों के प्रति कैसा मनोभाव होना चाहिए। स्तालिनग्राद में शेक्सपियर के नाम की एक बड़ी सड़क है।

हमारे खुद अपने देशके महान् गौरव कालिदास और उनकी अद्वितीय कृति अभिज्ञानशाकुंतल का सोवियत के प्रगतिशील समाज ने कितना आदर किया, यह इसीसे मालूम होगा कि कुछ साल पहले वहाँ के एक प्रसिद्ध नाट्यगृह में अभिज्ञानशाकुंतल को बड़ी तैयारी के साथ खेला गया था। अभिज्ञान शाकुंतल के एक नहीं तीन-तीन रूसी अनुवाद मौजूद हैं जिनका सोवियत जनता में काफ़ी प्रचार है। हमारे रवीन्द्र की बहुत-सी पुस्तकें सोवियत की भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं। इस युद्धकाल में भी सोवियत विद्वान भारतीय संस्कृति के महान् ग्रन्थ महाभारत के एक प्रामाणिक अनुवाद में संलग्न हैं। यह बतलाता है कि वह महाभारत को कूड़ा कर-कट नहीं समझते। यह साफ़ है कि प्रगतिशीलता से हमारी संस्कृति के गौरव को कोई हानि नहीं पहुँच सकती है। जिस तरह हमारे शरीर का एक-एक जीवकोष (Cell) अपने क्रोमो-सोम के भीतर हज़ारों पीढ़ियों की आनुवंशिकता—कार्यक्षमता को रखे हुए है, आगे बढ़ता रहता है, उसी तरह हमारी सारी मानसिक क्षमता अपनी पुरानी संस्कृति, अपनी कला की ऋणी रहेगी। हाँ, इसका यह मतलब नहीं है कि आनुवंशिकता ने हमारे लिए जो कुछ निर्बलताएँ, कुछ बीमारियाँ ला रखी हैं, हम उनको हटाने की कोशिश न करें। जीवन के लिए, गति के लिए, हमें वैसा करना ही होगा।

प्रगतिशीलता का अपने पुराने दर्शन के प्रति उसी तरह का एक सम्मान-भाव रहेगा। वह हेगेल का सम्मान करेगी क्योंकि वह भी विश्व का महान् विचारक हुआ है, साथ ही वह अपने धर्मकीर्ति को नहीं भूल जायगी जो इस जर्मन दार्शनिक से बारह शताब्दियों पूर्व होने पर भी कितनी ही बातों में उससे भी आगे रहा और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि सिर्फ़ भारत ही नहीं सारे विश्व की मण्डली में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का दर्शन अति ऊँचा स्थान रखेगा। बुद्ध, चार्वाक, अक्षपाद, कणाद सभी को हमारी प्रगतिशीलता भुलाने के लिए तैयार नहीं होगी—ताज्जुब है कि आज-कल के हमारे विश्वविद्यालयों में उन्हें भूलने की

कोशिश की जाती है; विश्वविद्यालय तो विश्वविद्यालय ही, संस्कृत के लिए सारा जीवन देनेवाली हमारी पण्डित-मण्डली भी शब्दों के पीछे इतनी उलझी हुई है कि दर्शन में हमारे तत्त्वज्ञानियों की अपनी खास देनों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। वस्तुतः हम अपने महान् विचारकों की क़ीमत ठीक से आँक नहीं सकते जब तक कि विश्व के बाजार की दूसरी विभूतियों के सामने उनको रखा न जाय। लेकिन हमारी प्रगतिशीलता शङ्कर और गंगेश तक ला कर दर्शन को ख़त्म करने के लिए तैयार नहीं हो सकती, उसे हमें और आगे ले चलना है—सपूत बेटे का यही कर्त्तव्य है कि पैतृक दायभाग को और आगे बढ़ावे और समृद्ध करे।

यही बात वैद्यक, ज्योतिष गणित के बारे में भारत के मनीषियों ने जो महान् प्रयत्न किये हैं, और यूनानी तथा अरबी दुभाषियों के द्वारा विश्व के ज्ञान को बढ़ाया है, उसे हम अपने गौरव की चीज़ समझते हैं। हम मानते हैं कि अभी उस गौरव को हम दूसरों से मनवा नहीं सके हैं। हो सकता है इसमें हमारी राजनीतिक ग़ुलामी भी कारण हो' लेकिन साथ ही हमारा वह दोष भी सहायक हुआ है जो कि पूर्वजों की बासी खाकर जीते रहने की हमारी प्रवृत्ति में है।

संक्षेप में हमारे सामने जो मार्ग है उसका कितना ही भाग बीत चुका है, कुछ हमारे सामने है और बहुत अधिक आगे आनेवाला है। बीते हुए से हम सहायता लेते हैं, आत्मविश्वास प्राप्त करते हैं, लेकिन बीते की ओर लौटना यह प्रगति नहीं प्रतिगति—पीछे लौटना—होगी। हम लौट तो सकते नहीं, क्योंकि अतीत को वर्त्तमान बनाना प्रकृति ने हमारे हाथ में नहीं दे रखा है। फिर जो कुछ आज इस क्षण हमारे सामने कर्मपथ है, यदि केवल उस पर ही डटे रहना हम चाहते हैं तो यह प्रतिगति नहीं है, यह ठीक है, किन्तु यह प्रगति भी नहीं हो सकती, यह होगी सहगति—लकू-भगू होकर चलना—जो कि जीवन का चिह्न नहीं है। लहरों के थपेड़े [illegible] बहनेवाला सूखा काठ जीवनवाला

नहीं कहा जा सकता। मनुष्य होने से, चेतनावान् समाज होने से हमारा कर्त्तव्य है कि हम सूखे काष्ठ की तरह बहने का ख़याल छोड़ दें और अपने अतीत और वर्त्तमान् को देखते हुए भविष्य के रास्ते को साफ़ करें जिसमें हमारी आनेवाली सन्तानों का रास्ता ज़्यादा सुगम रहे और हम उसके शाप नहीं आशीर्वाद के भागी हों। हमारे हिन्दी साहित्य में इसी शताब्दी में जब कविता की भाषा का सवाल आया था तो कितने ही लोग बड़े ज़ोर के साथ फ़तवा दे रहे थे कि खड़ी बोली कविता की भाषा कभी नहीं हो सकती। वह किसी बीते युग की भाषा को कविता का माध्यम बनाना चाहते थे। यह काव्य में प्रतिगति थी जो ज़्यादा दिन तक चल नहीं सकी। मजमा आगे बढ़ गया, बेचारा पलटूदास अकेला वियाबान में पड़ा रह गया। इसके बाद भाषा में तो प्रगतिशीलता स्वीकार की गई लेकिन भाव में सिर्फ़ तत्कालीन रुचि और उद्देश्य का ख़याल करके हिन्दी में कविताएँ लिखी गईं जो एक समय काफ़ी जनप्रिय भी हुईं मगर सहगति जिन लोगों के साथ थी वह धराधाम छोड़ कर सिधार गये, और उत्तराधिकारी बहुत आगे खींचे लिये जा रहे थे। सहगतिशील पिछड़ गये और पन्त, प्रसाद, निराला ने मैदान मार लिया। इसने हमें भाषा भाव सब से एक नवीनता, नवनिर्माण—जिसे ही जीवन कहते हैं—प्रदान किया। हाँ, प्रगति में यह हमेशा ख़तरा रहता है कि ज़रा भी आप सुस्ताने के लिए बैठे कि पिछड़े। यहाँ कहीं भी विश्राम लेने का ठाँव नहीं है। अगर एक पीढ़ी थक जाती है, तो उसे ख़याल रखना चाहिए कि प्रगति का इजारा उसको नहीं मिला हुआ है, उसकी जगह लेने के लिए अगली पीढ़ी तैयार है।

प्रगतिशील लेखकों के बारे में कभी-कभी आक्षेप सुना जाता है कि वह नग्नता, अश्लीलता और यौन दुराचार को अपनी लेखनी का विषय बनाते हैं। दरअसल यदि कोई प्रगतिशील लेखक ऐसा करता है तो वह भारी ग़ैरज़िम्मेवारी दिखलाता है और प्रगतिशील कहे जाने का कभी अधिकारी नहीं हो सकता। प्रगतिशील साहित्य या लेखक को समझने

की सबसे बड़ी बात यह होनी चाहिए कि वह दुनिया की व्याख्या करने के लिए नहीं आया है और न उसके लिए दो-चार आँसू बहा देने या दो-चार ठहाके लगा देने से ही उसका फ़र्ज़ पूरा हो जाता है। गति ठोस ज़मीन या साकार माध्यम का आधार लेकर होती है। वह निरुद्देश्य नहीं एक महान् लक्ष्य को लेकर है। हमने संसार को जैसा पाया उससे बेहतर अवस्था में आने वालों के हाथ में देना है। ज़रूर ही इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी जिसके ऊपर है वह कभी यौन दुराचार-जैसी सस्ती सफलताओं के पीछे भाग कर अपने उद्देश्य को नहीं ख़त्म कर सकता। जीवन में यौन सम्बन्ध का भी स्थान है। इसे यदि हम इन्कार करते हैं तो हम दूसरी अति पर पहुँचते हैं और वास्तविक नहीं अवास्तविक चीज़ का चित्रण करते हैं, इसलिए हमारा यह हरगिज़ मतलब नहीं कि हमारे साहित्य और कला में सम्बन्धों का ज़िक्र न आये। लेकिन उसी का रोज़गार खोल देना और आज के समाज की बुराइयों के कारण उत्पन्न वैयक्तिक कमज़ोरियों से फ़ायदा उठाने की कोशिश करना कभी अच्छा नहीं समझा जा सकता। दरअसल ऐसी बात वही कर सकते हैं जो और तरह से अपने को साधनहीन और अक्षम समझते हैं।

प्रगतिशील जगत् का ही एक अङ्ग है प्रगतिशील साहित्य। संगीत, साहित्य, कला किसी समय कुछ चुनीदे आदमियों की चीज़ समझी जाती थी। बड़े-बड़े सामन्त—राजा और पुरोहित—ही इससे मनोविनोद किया करते थे। पूँजीवादी युग ने यन्त्रों के आविष्कार से पुस्तकों, चित्रों, फ़िल्मों, रिकार्डों के द्वारा कला-साहित्य का और व्यापक क्षेत्र में प्रचार किया; तो भी कला-प्रेमियों की जमाअत एक चुनीदा जमाअत ही बनी रही। यह लम्बी नाकवालों का वर्ग समझने लगा कि साहित्य, संगीत और कला के जनक वही हैं और वही अधिकारी भी हैं। साधारण जनता को पुच्छविषाणहीन साक्षात् पशु बना रखने की उन्होंने कोशिश की। सामन्तों या पूँजीशाही मध्य-वित्तकों, बुद्धि-जीवियों को कभी यह ख़्याल में भी नहीं आया कि कला और साहित्य के जनक वह नहीं हैं, उसी तरह

जैसे गेहूँ और कपड़े के। हाँ, बिगाड़नेवाले ज़रूर हैं। साहित्य के माध्यम भाषा ही को ले लीजिए। ध्वनि, अलङ्कार जिस दृष्टि से भी देखिये भाषा को समृद्ध बनाने में कहावतों, मुहावरों का सबसे बड़ा हाथ है। वस्तुतः भाषा निर्जीव यान्त्रिक तौर से या सीधे तर्जुमावाले शब्दों के द्वारा हमारे भावों को प्रकट करने में समर्थ नहीं होती। बल्कि यदि हम अपने शब्दों के प्रयोग के पहले की मानसिक अवस्था पर किसी वक्त भी विचार करें तो मालूम होगा कि भाव बिना शब्द के ही मस्तिष्क की गीली मज्जा के ख़ास तरंगों के रूप में आ उपस्थित होते हैं और वह बाहर आने के लिए शब्दों को ढूँढ़ने लगते हैं। इस देरी को नज़र डालने से हम आसानी से समझ सकते हैं कि भाव सारे ही इन शब्दों के अलग-अलग रूपों में व्यक्त नहीं हो सकते। भावों को ये वाक्य ज़्यादा व्यक्त कर सकते हैं जो अपने शब्दार्थों से दूर तक ध्वनित करते हों। यह सामर्थ्य भाषा में तभी आती है जब उसमें निर्जीव शब्दावलियों की जगह सजीव मुहावरेवाले वाक्य लाये जायँ। इन मुहावरों की ओर अगर आप ध्यान दें तो मालूम होगा कि सौ में निन्नानवे से भी ज़्यादा के जनक सफ़ेदपोश नागरिक नहीं साधारण जनता है। उसी ने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', 'दूर के ढोल सुहावन', 'रस्सी जल गई ऐंठन नहीं गई' जैसे हज़ारों मुहावरों को प्रदान कर भाषा को समृद्ध किया। आँख मूँद कर संस्कृत या अरबी फ़ारसी से हज़ारों हज़ार शब्द क़र्ज़ लेने पर भी आज हमारी हिन्दी और उर्दू में जो भाव-प्रकाशन और लोच की दरिद्रता पाई जाती है, उसका एक बहुत बड़ा कारण है साधारण जनता के बनाये इन मुहावरों और कहावतों से वञ्चित होना। न वञ्चित होने के लिए हिन्दी को (और उर्दू को भी) आसमान से नीचे उतरना होगा और अपनी जननी कौरवी (मेरठ कमिश्नरी के पौने चार जिलों की स्थानीय भाषा) से फिर अटूट संबंध स्थापित करना होगा। सफ़ेद-पोश भद्रवर्ग को तब पता लगेगा कि साधारण जनता के सम्पर्क से ही 'पारस परस कुधात सुहाई' हो जाता है।

शायद संगीत के बारे में यह ख्याल हो कि वह तो जरूर किसी समुद्रगुप्त या अकबर के दरबार की उपज होगी मगर यहाँ भी भीतर घुस कर देखने से मालूम होता है कि बात उलटी है। परीक्षा से तो यह मालूम होता है कि कामचोरवर्ग—सामन्त, पुरोहित, सेठ, महाजन—बनाने नहीं बिगाड़ने का काम ज्यादा कर सकते हैं। समुद्रगुप्त के समय (ईसा की चौथी शताब्दी में) संगीत के कोई हरिदास या तानसेन पैदा हुए। कहा नहीं जा सकता कि वह तानसेन सामन्त, पुरोहित-जैसे भद्रवंश में पैदा हुए या साधारण जनता के घर में। अस्वाभाविक तौर से ठोंक-पीट कर प्रतिभाओं के तैयार करने का प्रयत्न भद्रवर्ग में ज्यादा है, मगर साधारण ग्राम की जनता इसमें पिछड़ी नहीं देखी जाती। कुछ भी हो समुद्रगुप्त के दरबार का तानसेन साधारण जनता के गीतों और तानों के विकास से अच्छी तरह परिचित था। उसने मौर्यों या पहले से चले आये दरबारी गीतों और तानों को समुद्रगुप्त या उसके पिता के दरबार में सुना होगा। वह उसे फ़िजूल की गलेबाजी मालूम हुई होगी। उसने अपनी संगीत की प्रतिभा को गाँव में बिखरे रागों को परखने और चुनने में लगाया और एक नया संगीत प्रदान किया जिसके आरोह-अवरोह उस समय कालिदास के काव्यों और अजन्ता के चित्रों, उदयगिरि की मूर्त्तियों की तरह ही भव्य रहे होंगे। लेकिन उस संगीत के हमारे पास पहुँचने के लिए कोई साधन नहीं रहा। इसलिए उसके बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि गुप्त-काल की सर्वतोमुखी प्रगति में संगीत पिछड़ा नहीं रह सकता था। शायद समुद्रगुप्त के तानसेन और उसके सहकारियों का नवाविष्कृत संगीत अपने नालायक उत्तराधिकारियों के हाथ में पहुँचा जिन्होंने समझा कि इस महान् संगीत का जनक उनका दिमाग़ है। फिर दिमाग़ी कलाबाज़ी और गलाबाज़ी ख़ूब हुई और ग्यारह-बारह सौ साल के बाद अकबर के समय वह किस अवस्था में पहुँचा था इसे भी हम अच्छी तरह नहीं बतला सकते। हाँ, वह विकृत, अत्यन्त कृत्रिम और जड़ जरूर हो गया था; नहीं तो हरिदास और तानसेन को श्रेय किस बात का? तानसेन फिर इस

कृत्रिमता के दूर करने के लिए 'साधारण जनता' को झोपड़ियों की ओ दौड़ता है। उसने सिन्ध से सिन्धी, पहाड़ से पहाड़ी, मालवा मालव और 'दिहाती' रागों और सुरों से महान् हिन्दुस्तानी संगीत निर्माण किया। तानसेन के बाद पीढ़ियाँ बीतती गईं, भद्रवर्ग और उर आश्रित संगीतज्ञों के दिमाग़ में फिर वही ख़ुराफ़ात पैदा होने लगी उन्होंने जन संगीत से एकाएक नाता तोड़ लिया। आज फिर वह कृत्रि और मृतक-से संगीत के रूप में हमारे सामने है। हमारे गलाबाज़ उसल अनाड़ी कहलाने के डर से गलाबज़ी करते हैं, मगर वह ज्यादा दिन त चल नहीं सकता। प्रगति रुकी हुई है और उसे चालू करने के लिए फि संगीत के जनक को जन-संगीत के पास पहुँचना होगा। नृत्य में तो य काम उदयशङ्कर ने कुछ-कुछ, झिझकते हुए ही सही, शुरू भी क दिया है।

प्रगतिशील साहित्यिक को इस गली में क़दम रखते ही अपनी झूठ लंबी मोम की नाक को उतार कर अलग रख देना चाहिए। उसे सम लेना चाहिए कि प्रगति का स्रोत उसका दिमाग़ नहीं है बल्कि वह ची है जिससे प्रगति के लिए शक्ति मिलती है और यह शक्ति का स्रोत जनत है। उसको अपनी प्रतिभा और अभ्यास के लिए जिसका आश्रय लेना वह है साधारण जनता। सामन्तों और थैलीशाहों के आगे बढ़कर अब उ उस बड़े दरबार का दरबारी नहीं बल्कि एक अङ्ग बनना है जिसकी ही ओ भविष्य की दृष्टि गड़ी हुई है। सफ़ेदपोश भद्रवर्ग ने अपने निकम्मेपन अपने कमीनेपन, अपनी स्वार्थान्धता का काफ़ी सबूत दे दिया और यदि दुनिया उसी की ओर आसरा लगाये हुए है तो शैतान ही उसे बचावे प्रगतिशील कलाकारों का काम है हमेशा अपनी सफलता के लिए जनत के साधुवाद को कसौटी मानना, जहाँ दो-चार आदमियों का सवाल नह है कि किसी की लल्लो-चप्पो, लीज-मुरौवत या सिफ़ारिश से कुछ लिखवा लिया जाये। यह समझना चाहिए कि सफल हम तभी हो सक हैं जब जनता हमें सफल समझ कर दाद दे। इसीलिए पुराने 'देवताऽ

की भाषा' (वाणी) से यहाँ काम नहीं चलेगा। हमें जनता की भाषा को अपनाना पड़ेगा—नहीं, दुरदुराने से परहेज़ करना पड़ेगा। ऐसे लोग तो बहुत कम हैं जिनकी मातृ-भाषा कोई न कोई जनभाषा नहीं है। हमारे बहुत-से भाई भद्रवर्ग द्वारा दुरदुराई इन भाषाओं को 'बोली' कह कर उड़ा देना चाहते हैं। वह समझते हैं कि उत्तरी भारत के बीस करोड़ लोग जल्दी ही अपनी मातृ-भाषाओं को छोड़ कर हिन्दी या उर्दू दोनों भाषाओं में से एक को अपना लेंगे। यदि पिछले चालीस वर्षों की अवस्था पर ही वे विचार करते तो ऐसी ग़लती कभी न करते। पण्डित उदयनारायण तिवारी बलिया के बारे में कह रहे थे कि अब तो वहाँ के अध्यापक हाई स्कूलों में उर्दू-हिन्दी नहीं सिर्फ़ बलिया की भाषा में बीजगणित, अङ्कगणित, रेखागणित समझाते हैं। चालीस बरस में तो हमें आशा करनी चाहिए थी कि बलिया की भाषा कम से कम हाई स्कूलों से बहिष्कृत हो जाती मगर वहाँ तो पिछले दस बारह वर्षों के भीतर ज़बरदस्ती वह चौखट के भीतर घुस आई। हिन्दी का अपना महत्व है। हिन्दी जो अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनी है, वह किसी के प्रोपेगेण्डा के बल पर नहीं बल्कि उसका कारण है सारे देश को एक बड़े कुटुम्ब के रूप में परिणत करने की सर्वव्यापी आधुनिक प्रवृत्ति। आधुनिक यातायात, शिक्षा और दूसरे साधनों ने हमें एक दूसरे प्रान्तों के बहुत नज़दीक ला दिया है। फिर एक सम्मिलित भाषा बहुत ज़रूरी है इसे साहित्य सम्मेलन और गांधी महात्मा के हिन्दुस्तानी आन्दोलन से सैकड़ों बरस पहले भारत में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों ने अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची और उज्जैन में इकट्ठे होकर देख लिया था। जो लोग मातृ भाषाओं की बात सुनते ही चौंक पड़ते हैं और समझते हैं कि अब तो हिन्दी की खैर नहीं, वह प्रगति की शक्ति को नहीं पहचानते। अब फिर एक-एक बोलीवाले प्रान्त अपने अंडे की खोल के भीतर लौट कर छिप नहीं सकते। फिर अन्तर्प्रान्तीय भाषा की आवश्यकता कैसे कम हो सकती है। राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी दृष्टियों से देखने

से इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी बहुत उपयोगी है, इसीलिए उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। लेकिन साथ ही हिन्दी की वेदी पर मातृ-भाषाओं की बलि चढ़ाने का स्वप्न भी सिर्फ स्वप्न मात्र है। इससे यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जनता की शक्ति को देश के जीवन, प्रगति में पूर्णतया उपयोग में लाने से वंचित होना। साहित्य में प्रगतिशीलता हमसे माँग करती है कि जितनी ही विस्तृत हो उतनी ही गहरी भी हो, जितना ही देश में फैली हो उतनी ही एक एक व्यक्ति के पास पहुँची भी हो। इसके लिए मातृभाषाओं के द्वारा शीघ्र से शीघ्र सारी जनता को साक्षर और शिक्षित कला-साहित्य-पारखी बनाने के सिवा और कोई रास्ता नहीं। संगीत में प्रगतिशीलता हमसे माँग करती है कि हम जन-संगीत से अपनी संगीत-प्रतिभा को जोड़कर एक नये सङ्गीत का निर्माण करें। नृत्यकला में प्रगतिशीलता हमसे माँग करती है कि हम अश्लील, दरबारी, निर्जीव नृत्य के स्थान पर जननृत्य—अहीर-नृत्य आदि—को कला के क्षेत्र में लायें। जनता की शक्ति को साथ ले कर ही हम प्रगति कर सकते हैं, इसलिए आज के साहित्यिक, कलाकार या विचारक का लक्ष्यबिन्दु जनता होनी चाहिए।

आज का साहित्यकार

आज अवन्ति या मालवगण की प्राचीन भूमि में हमारे मध्य भारत के तरुण लेखक और कवि एकत्रित हुए हैं। अवन्ति कौन? जिसने मगध से भी पहले भारत को एक बनाने का पहले-पहल प्रयत्न किया। पर आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले की बात है बुद्ध के समय प्रद्योत महासेन —जिसे चंड प्रद्योत भी कहा जाता था—ने शायद मिलाने के लिए यह करना चाहा था। उसकी भुजाएँ मथुरा तक पहुँची थीं, जहाँ उसका भाँजा शासन करता था। उसकी दूसरी भुजा प्रयाग के पास कौशाम्बी तक पहुँच रही थी जहाँ उसके दामाद कुरुवंशी महाराज उदयन का शासन था। बिंबसार के मरने के बाद भावी मगध महाराष्ट्र के प्रथम सूत्रधार आजतशत्रु प्रद्योत महासेन के आक्रमण की घड़ियाँ गिन रहा था और उसके महामंत्री वर्षकार राजधानी राजगृह की किलाबन्दी करने में व्यस्त था। उस वक्त होड़ थी अवन्ति और मगध में—कौन भारत पर एकछत्र स्थापित करेगा।

तो भी भारत के जनपदों की सीमाओं को तोड़ कर एक विस्तृत एकताबद्ध राष्ट्र स्थापित करना समय की माँग थी। पारसीक शाहंशाह दारयोश ने सिंध के तट पर पहुँच कर बतला दिया था कि यूरोप, अफ्रीका, एशिया तीन महाद्वीपों की सामरिक शक्ति से बचने के लिए एक हो जाओ नहीं तो तुम्हारे प्राचीन देश की भी वही हालत होगी जो काबुल की हुई जो मिश्र की हुई। जम्बुद्वीप—इसी नाम से भारत उस समय प्रसिद्ध था—को यह करना नहीं तो मरना था। इक्ष्वाकु और उसके प्राचीन राजवंश, कोसल और वत्स के योद्धा, पुरानी परंपरा और व्यवस्था के बोझ से इतने दबे हुए थे कि वह किसी के साला किसी के दामाद रह कर ही संतोष कर सकते थे। वज्जी (वैशाली) और उत्तरापथ

के गणतंत्र जनता के हाथ में होने से नित नूतन शक्ति के अक्षय भंडार थे मगर रक्त संबंध पर स्थापित उनकी सीमायें दूर तक फैलाई नहीं जा सकती थीं—गणतंत्री योद्धा अपने शत्रुओं के दाँत खट्टे कर सकते थे, मगर पराये देश को परतंत्र कर उस पर शासन करने के लिए गणतंत्री शासक शासन यन्त्र नहीं दे सकते थे।......पराजित देश का शासक बन कर भेजे गए गण नागरिक को प्रलोभन से नहीं बचाया जा सकता था। अभी आर्थिक साम्यवाद का युग बहुत दूर था, उसके इतिहास को कई मंजिलें पार करनी थीं।

हाँ, तो भारत के एकीकरण में अवन्ति और मगध की प्राची और प्रतीची (पूरब और पच्छिम) की होड़ लगी हुई थी। इतिहास ने सफलता का सेहरा अवन्ति नहीं मगध के सिर पर बाँधा। पर कहना आंशिक सत्य होगा, यदि इस कार्य में मगध की तलवार का हाथ था तो उससे कम अवन्ति के हृदय और प्रतिभा का हाथ नहीं था। अशोक ने वर्षों अवन्ति का युवराज रह शासन की विद्या ही नहीं सीखी थी बल्कि वहीं "धर्मविजय" का वह बीज उसके हृदय में पड़ा था जो कि कलिंग-विजय के बाद अंकुरित और पल्लवित हुआ। अशोक के धर्म विजय के बारे में हम इतिहास में बहुत पढ़ते हैं मगर इस बात को छोड़ दिया जाता है कि उसका मुख्य श्रेय अशोक नहीं बल्कि उससे भी दो शताब्दियों पूर्व प्रद्योत के पुरोहित कात्यायन को मिलना चाहिए। महान् कात्यायन ने ही बुद्ध की विशाल दृष्टि और अपने समय की अत्यन्त प्रगतिशील शिक्षा को मध्य देश से बाहर फैलाया—अब भी दक्षिणापथ की धर्म विजय का महान् कार्य महाकात्यायन ने किया, जिसमें तलवार नहीं, सेवा और ज्ञान के शास्त्र का ही एक मात्र हाथ था। मगध की तलवार वह काम पूरा न कर सकती थी, यदि अवन्ति ने उसे अपना अस्त्र प्रदान न किया होता। अशोक के धर्म विजय में भी अवन्ति ने सीधे हाथ बँटाया था। बुद्ध के संदेश के साथ भारतीय उच्च संस्कृति का ताम्रपर्णी-लंका में संदेश वाहक होकर अशोक पुत्र महेन्द्र का जाना आकस्मिक घटना न थी।

महेन्द्र माता की ओर से अवन्ति और दशार्ण (बुंदेलखंड) की सन्तान ही नहीं थे, स्वयं भी उनकी शिक्षा-दीक्षा अवंतिकापुरी में ही हुई थी ।

और दो-तीन शताब्दियाँ बीतीं । यवन-यूनानी आये । एक अवन्ति के शासक थे । मगर इसी समय भारत की एक प्राचीन वीर जाति के प्रजातंत्र ने शक जाति के साथ जबर्दस्त लोहा ले कर दिखा दिया कि भारत के राजतंत्र से गणतंत्र पीछे रहनेवाले नहीं थे । मालवों के इस गण ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में वह संवत् चलाया, जिसे आज विक्रम संवत् कहा जाता है । मालवगण ने प्राचीन अवन्ति के राजतंत्र को गणतंत्र दिया जो समय की प्रतिकूलता के कारण चिरस्थायी नहीं हो सका, एक नया संवत् दिया जिसे दूसरों ने चुरा लिया, मगर उसने इस भूमि को एक नाम दिया, जो सदा के लिए अमिट बन गया । आज अवन्ति सदा के लिए मालवा है । कौन कह सकता है जनता के इस नव जागरण काल में मालव की बिखरी जनता फिर एक शक्तिशाली समूह, मालवगण, में संगठित नहीं होगी । क्या अच्छा होता यदि हम मालवगण के संवत्सर की द्विसहस्राब्दि किसी विक्रम का कीर्ति स्तंभ स्थापित करके नहीं बल्कि गण की पुनः स्थापना करके मनाते ।

यह तो हुआ राजनीतिक पहलू इस प्राचीन भूमिका लेकिन साहित्यिक पहलू ? वह इससे कम गौरवपूर्ण नहीं । अवन्तिकन्या वासवदत्ता कुरुवंश को चक्रवर्ती प्रदान नहीं कर सकी मगर उसने कवियों को अनुपम कल्पना दी । संस्कृत और प्राकृत ।साहित्य में उदात्त नायिका बनाने का सबसे अधिक सौभाग्य प्रद्योतसुता वासवदत्ता को है । गुणाढ्य ने बृहत्कथा में उसका गान किया, जिसे सोमदेव और क्षेमेन्द्र ने दुहराया । कालिदास ने मालविका के नाम से उसी को याद किया । एक वासवदत्ता ही क्यों ? अवन्तिपुरी ने द्विजसार्थवाह चारुदत्त जैसा नररत्न दिया, समाज की चिरप्रताड़ित रूपाजीवा वसंतसेना जैसा नारीरत्न दिया । बाण को भी अपने प्रधान पात्रों को ढूँढ़ने के लिए पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, साकेत

और वाराणसी छोड़ अवन्ति आना पड़ा, तभी वह अपनी कादम्बरी के चमत्कार को दिखा सका।

इस थोड़े से कथन से मालूम होगा कि मालव भूमि का हमारे साहित्य में क्या स्थान है और फिर हमारे साहित्य के अमर कलाकार कालिदास, उनकी प्रतिभा, उनकी शकुंतला को मालव ही ने पैदा किया। मालव की भूमि शताब्दियों से अपनी भौतिक उर्वरता के लिए प्रसिद्ध रही है। मालवा में कभी अकाल नहीं पड़ता, मालव की भूमि अन्न के लिए खान है मगर मालव की भूमि ने अपनी बौद्धिक उर्वरता को, मैं समझता हूँ, अब भी खोया नहीं है। उसके भविष्य के गर्भ में अब भी महान् कवि कालिदास छिपे हुए हैं, महान् संस्कृति वाहक महेन्द्र प्रतीक्षा कर रहे हैं, महान् विजयी मालवगण बाट जोह रहे हैं।

उस पवित्र मालव भूमि में आज हम लेखक एकत्र हुए हैं, सिर्फ साहित्यकार के तौर पर ही नहीं, बल्कि भविष्य के निर्माता के तौर पर। वस्तुतः साहित्यकार भविष्य के निर्माता से अलग नहीं हो सकता। आखिर सच्चा साहित्यकार क्या करता है? पीढ़ियों की उपार्जित निधियों को हमारे पास पहुँचा कर, हमें उनका उत्तराधिकारी बना कर उन निधियों की पूँजी, उनके तजुर्बे से सबल हो आगे बढ़ने के लिए हमारे पैरों में शक्ति, हमारी आँखों में विशाल दृष्टि प्रदान करता है। साहित्यकार अपने वाक्यों में रस, अपने पदों में लालित्य, अपनी उक्तियों में सूक्ष्म सबल ध्वनि ही नहीं प्रदान करता बल्कि वह भविष्य का भी संकेत करता है, भविष्य के निर्माण में साक्षात या अपने उत्तराधिकारियों द्वारा हाथ बटाता है। शूद्रक अपने आर्यक और चारुदत्त द्वारा दुष्ट शासन के उच्छेद का संकेत करता है।

हमारे साहित्यकारों को ही अपनी सांस्कृतिक निधि की रक्षा करने का गुरुतर भार सौंपा गया है, जो कि वाल्मीकि, अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति और बाणभट्ट पर पड़ा। साथ ही हमारे हाथों को नव-निर्माण में भी उतने ही ज़ोर से भाग लेना है। सांस्कृतिक निधि की रक्षा

नवनिर्माण की अभिलाषा यही वे बातें हैं जिन्होंने हमें फासिस्टवाद का घोर विरोधी बनाया। हमें अफ़सोस है कि हमारे कितने साहित्यकार कभी इसे समझते ही नहीं कि फ़ासिस्टवाद दुनिया की हरेक जाति की संस्कृति और नवनिर्माण का कितना शत्रु है। जर्मन फासिस्टों के उन सिद्धान्तों को उन्होंने हिटलर के "माइन-कैम्फ" में पढ़ा, तब भी उनका हृदय यदि नहीं काँप उठा तो उसके लिए क्या कहना चाहिए। फासिस्टों ने ताल्स्ताय के आश्रम को—विश्व के उस अमर कलाकार की पवित्र समाधि को ध्वस्त और अपवित्र किया। उन हाथों और पैरों से हमारे रवीन्द्र के शांतिनिकेतन आधुनिक कवि कुल-गुरु की मधुर स्मृति चिह्नों के लिए क्या आशा की जा सकती है? क्या फासिस्ट "उत्तरायण" को घोड़ों के अस्तबल नहीं बनावेंगे? क्या फासिस्ट जर्मन और जापानी कवीन्द्र की स्वहस्तलिखित प्रतियों और संग्रहीत साहित्यनिधियों को जला कर चाय नहीं तैयार करेंगे? उन्होंने रूस में यही किया, पोलेन्ड में यही किया, फ्रांस में यही किया। पूरब में भी कोरिया पर क्या गुजरी, सौ वर्षों से हम पढ़ते आ रहे हैं और चीन में उनकी दानवी लीलायें उसी वक्त प्रगट हो चुकी थीं जब कि हमारे हमारे महान् कवि ने फासिस्ट जापान के नागूची को अपनी वज्र लेखनी द्वारा मुँह-तोड़ जवाब दिया था।

फासिस्ट जर्मन और फासिस्ट जापान किस क्रूर और घृणित उद्देश्य को लेकर विश्वविजय करने चले हैं, इसे विस्तार के साथ मैं यहाँ लिखने नहीं जा रहा हूँ। आपको मालूम होगा कि चाहे अपने को आर्य कहलानेवाले जर्मन फासिस्ट हों चाहे सूर्यदेवी के औरस सन्तान जापानी फासिस्ट, वे समझते हैं कि यह सारी पृथ्वी उनके लिए ही बनी है। स्लाव हो या अंग्रेज, फ्रांसीसी हो या यूनानी किसी को इस पृथ्वी पर रहने का तभी तक अधिकार है जब तक कि जर्मन माताएँ जैसे भी हो वैसे पर्याप्त जर्मन बच्चे पैदा नहीं कर लेतीं। उनके लिए यूरोप की गोरी जातियाँ ही जब वर्णसंकर और पशु मानव हैं तो हम एशियाई काले

लोगों के लिए पूछना ही क्या? हम लोग सिर्फ़ इस प्रभु जाति के गुलाम बनने के लिए हैं। याद रखिये हिटलर के हमारे सम्बन्ध में वे उद्गार कोरे प्रचार के लिए नहीं हैं। हिटलर ने जो कहा था उसे उसने कई गुने भीषण रूप में रूस और यूरोप के दूसरे देशों में कर दिखाया। जापान का नवविधान उस क्रूरता को छिपा नहीं सकता जिसे उसने चीनी और कोरियन जनता के ऊपर उतारा। चीन और कोरियन जाति के ख्याल से भी, धर्म और संस्कृति के ख्याल से भी जापान के जितने नज़दीक हैं, उतने हम नहीं हैं। हमारे रवीन्द्र, हमारे जवाहिरलाल और हमारे आज़ाद के साथ जापानी फासिस्ट उससे बेहतर बर्ताव करेंगे, जैसा कि हिटलरी फासिस्टों ने अपने पराजित देशों में किया, यह वही आशा रख सकते हैं जिन्होंने समझने की शक्ति खो दी है। जापानी फासिस्ट दूसरी जातियों के लिए नवविधान नहीं बनाना चाहते, उनका नवविधान है दुनिया पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए। तनाका ने क्या कहा था—पहले चीन और आस-पास फिर भारत और सारी दुनिया पर सूर्यदेवी की संतान का शासन। इसमें जो भी बाधा उपस्थित करेगा उसके लिए सबसे घृणित सबसे यातनापूर्ण मृत्यु। यहीं तक नहीं, जर्मन फासिस्टों की भाँति जापानी फासिस्ट भी इस पृथ्वी को एकमात्र सूर्यदेवी की संतान की वासभूमि मानते हैं। दूसरी जातियाँ दासता का तौक पहिने हुए भी तभी तक जीने की आशा रख सकती हैं—जब तक जापानी माताएँ शुद्ध वंशज सन्तानों को काफ़ी पैदा नहीं कर लेतीं। अन्त में सभी पृथ्वी फासिस्ट जातियों के लिए खाली करके सदा के लिए लुप्त हो जाना है। फिर ऐसे नवविधान में सांस्कृतिक निधियों की रक्षा और नवीन जीवन का निर्माण कहाँ सम्भव है। हमारे साहित्यिकारों को आँख मूँदने और कान बन्द करने की जगह अच्छी तरह देखना-सुनना होगा कि मानवता को आज कैसे लोगों से पाला पड़ा है! हमारे रवीन्द्र ने इस रहस्य को समझा था तभी उन्होंने हमारे लिए रास्ते का संकेत किया। वे विदेशी शासन के असह्य जूते को किसी से कम अनुभव नहीं कर रहे थे। देश की

स्वतंत्रता के लिए प्रतिक्षण अधीर जवाहिरलाल—राजनीतिज्ञ ही नहीं, लेखक जवाहिरलाल—फासिस्टों के प्रति इतनी घृणा क्यों रखते हैं, इसी कारण कि फासिस्ट संसार में हमारे प्राचीन राष्ट्रीय निधि के लिए स्थान नहीं, हमारे नवजीवन के लिए कोई आशा नहीं खुद हमारी चालीस करोड़ की जाति के लिए अपनी पुरानी भूमि पर भी जीने का अधिकार नहीं।

जबकि फासिस्ट बर्बरता युगों के देनों और अभिलाषाओं को इस तरह मिटाने के लिए तैयार है उस वक्त अकिंचन क्रौंच मिथुन की पीड़ा से भी तड़पनेवाले को लाख-लाख शिशुओं, स्त्रियों और [illegible]द्धों की मर्मान्तक पीड़ा की कोई संवेदना न हो, क्या यह हमारे हृदय को अपने पूर्वजों का यथार्थ उत्तराधिकारी रहने देगा?

फासिस्टों के प्रति तटस्थता हमारी हर्गिज नहीं हो सकती हमारा हृदय इसका विरोधी है, हमारी सांस्कृतिक परंपरा इसे स्वीकार नहीं कर सकती। हमारा भविष्य, हमारा सारा जातीय स्वार्थ इसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हो सकता।

जीवन का खतरा मानव को ही नहीं, पशु जगत को भी रहता है। यह प्रथम सहज बुद्धि है। कवि के लिए तो इस सहज बुद्धि ने अपने काम को सुन्दर बनाने के लिए कई सुन्दर उपकरण दिये, घातक अत्याचारी द्वारा पीड़ित के प्रति करुणा प्रगट कर कवि को अपना काव्य उच्चतम तल पर पहुँचाने का मौका दिया; कभी अत्याचार के विरुद्ध खड्गहस्त हो वीरता प्रदर्शन करने का अवसर दिया। आज हमारे सामने फासिस्टों की दानवी लीलाओं ने जो दृश्य उपस्थित किये हैं उनसे बढ़ कर हमारे साहित्यिक हृदय को प्रेरणा देनेवाली और कौन-सी महान् घटनाएँ हो सकती हैं। स्तालिनग्राद के वीरों की वीरता युगों तक संसार के कवियों को वीर काव्य लिखने की प्रेरणा देती रहेंगी और स्तालिनग्राद की वीरगाथा हमसे असम्बद्ध नहीं है। स्तालिनग्राद के वीरों ने सिर्फ स्तालिनग्राद और रूसियों की वोल्गा माता को ही नहीं बचाया उन्होंने सर्वजाति

उच्छेता जर्मन फासिस्टों से हमारी गङ्गामाता को मलिन होने से बचाया। फासिस्टों को यदि स्तालिनग्राद के वीरों ने अपनी छाती के दीवारों से टकरा कर पीछे भागने के लिए मजबूर न किया होता तो उन्हें बोल्गा से गङ्गा तक आने में कौन रोक सकता? मानवता के लिए कोमल भावनाओं जातीय स्वार्थ के लिए हमारी व्यावहारिक बुद्धि इसके लिए बाध्य करती है कि हमारे साहित्यिक हृदय में स्तालिनग्राद का वीर युद्धनाद प्रतिध्वनित हो उठे। साहित्य के लिए प्रेरणा देनेवाले जितने अधिक साधन आज के इस महान् संघर्ष में सुलभ हैं, उतना शायद ही किसी समय प्राप्त रहे होंगे।

लेकिन हमारे साहित्य को सिर्फ ध्वनित होना नहीं है। साहित्य केवल कल्पना जगत की चीज़ नहीं है, वह एक दुर्धर्ष शक्ति है। हाँ, वह कल्पना जगत की चीज़ मात्र भी रह सकती है, यदि वह सिर्फ शून्य आकाश में ही घूमता रहे। लेकिन जैसे ही उसे ठोस भूमि का आधार मिल जाता है, वैसे ही वह प्रचंडतम भौतिक शक्ति (के रूप में परिणत हो जाता है और साहित्य को यह दुर्धर्ष भौतिक शक्ति) प्राप्त होने की वह भूमि कौन है? साधारण जनता। वैनिक विज्ञान के सारे सिद्धान्त कल्पना मात्र रह जाते हैं जब तक कि वह साधारण जनता के बाहुबल और मस्तिष्क का अभिन्न अंग नहीं बन जाते। मानव जाति के हितैषी युगों से एक भव्य समाज के निर्माण की कल्पना कर रहे थे। वे अपने समय की विषमता, ग़रीबी, और कंकाल के स्थान पर एक सुनहला संसार पैदा करना चाहते थे, लेकिन उनकी सारी शुभाशायें, उनके सारे स्वप्न फिर स्वप्न भर रहे, जब तक कि क्रांतिदर्शी कार्लमार्क्स ने और महान् लेनिन ने साम्यवादी सिद्धान्तों को मजूर-किसान जनता के साथ वर्गगत स्वार्थों की बुनियाद पर सम्बन्धित नहीं कर दिया। आज साहित्यिकों की सूक्ष्म अनुभूति और दिव्य दृष्टि जनसंपर्क की बाट जोह रही है। जन संपर्क होते ही उसमें वह अद्भुत भौतिक शक्ति आ जाती जिससे फासिस्ट दानवता का मुकाबला करके वह एक ओर अपने राष्ट्र और राष्ट्रीय निधियों की रक्षा कर सकती है और दूसरी ओर जनता के

महान् बल से संसार को पलट सकती है। इतिहास में साहित्य निर्माताओं ने हर समय अपने युग की परिवर्त्तनकारिणी शक्ति को इसके लिए इस्तेमाल किया, आज भी नवनिर्माण और सामाजिक प्रगति चाहनेवाले साहित्यकार को परिवर्त्तन की महान् क्षमता रखनेवाली जनशक्ति से सम्पर्क स्थापित करना पड़ेगा। यह महाजन (विराटजनसमूह) ही हमारे पथ को प्रशस्त कर सकता है। किसी वक्त सामंत दर्बारों द्वारा परिवर्त्तन में सहायता मिल सकती थी लेकिन आज का महान् साहित्यिक दर्बारी साहित्यकार नहीं, वह तो सायन्स के अद्भुत आविष्कार प्रेस, क़ाग़ज़ यंत्र, रेडियो, चलते, बोलते चित्रपट के द्वारा अधिक से अधिक जनता तक पहुँचना चाहता है। इसीलिए आज का साहित्यकार आज परिस्थितियों में जन-साहित्यकार होने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। आज उसे मनोरंजन करना जन-मन का। आज उसे स्फूर्ति पैदा करनी है जनशक्ति में। आज उसे संघर्ष से पलायन का संदेश नहीं देना है बल्कि विशाल जनता के साथ आगे बढ़ कर जनसंघर्ष में भाग ले नये निर्माण का सहकारी बनना है। आज दुनिया की व्याख्या करने नहीं, बल्कि दुनिया को बदलने में अपनी शक्ति लगाने का उसे सुनहला अवसर मिला है। इतना सुन्दर अवसर किस युग के साहित्यकार को मिला था। आज उसका सारा स्वार्थ, उसकी अशेष महत्त्वकांक्षायें जनता के स्वार्थ में पूर्ण रूपेण निहित हैं, इसीलिए उसे अपने तुच्छ स्वार्थ-साधन के लिए व्यर्थ होने की ज़रूरत नहीं, आज वह अपने व्यक्तित्व को महान् बना कर सारे जनसमाज के हितों के लिए गंभीर नाद कर सकता है।

जन-साहित्यकार कैसे इस चिर पुरातन और चिरनूतन जनशक्ति से अपना अटूट संबन्ध स्थापित करे ? इसके लिए हमें जनता के भावों को समझना होगा उसमें सभी उपयोगी रसों को भरने के लिए जन-भाषा को सफलतापूर्वक इस्तेमाल करना होगा। हमें अपने संदेश को ऐसी भाषा में लपेट कर नहीं पेश करना होगा कि जनता उसका उपयोग न कर सके। इसका यह मतलब नहीं कि साहित्यकार को जनता का मानसिक

स्तर ऊपर उठाना नहीं चाहिए। साहित्यकार जनता का जबर्दस्त साथी-साथ ही साथ उसका अगुवा भी है। वह सिपाही है और सिपहसालार भी है। लेकिन आज का सिपहसालार, आज का अगुवा तभी अपने कर्त्तव्य को ठीक तरह से पूरा कर सकता है, यदि वह जनता से अभिन्नता स्थापित करे; यदि वह अपने खोल को तोड़ कर अंडे के बाहर आ सके, जनता की नाड़ियों में, उसके हृदयों में, उसके मस्तिष्क में उठती एक-एक तरङ्ग की अनुभूति करके वह महान् साहित्य का सृजन कर सकता है। जनता के हृदय की यह संवेदना; जनता के प्रति संवेदना हमें उसके सहस्रधार जीवन से सहस्रधार प्रेरणाएँ दे सकती हैं। फिर क्या हम अपने आस-पास की जीवन घटनाओं और मानवता के चीत्कारों से अपने को बहरे रख सकते हैं? यदि जन-बल पर हमारा विश्वास है तो हमें निराश और निरुपाय होने की आवश्यकता नहीं है। जिस दुर्दम शक्ति ने फासिस्ट काली घटाओं में आशा के विद्युत का संचार किया है, वही अमोघशक्ति हमारे भविष्य की भी गारंटी है।

प्रगतिशील साहित्य

निबंध

रु० आ०

दिमागी गुलामी—राहुल सांकृत्यायन 0—12

किसानों की समस्या, शिक्षा, गांधीवाद आदि-आदि विषयों की सरल विवेचना। शिक्षा में संसार की भिन्न भिन्न प्रतिमाओं ने हमारे ज्ञान विज्ञान के भंडार को जो भरा है, उससे वंचित न होते हुये दर्शाया गया है।

तुम्हारी क्षय—राहुल सांकृत्यायन 1—0

पुरानी रूढ़ियों, जर्जर परम्पराओं और सामाजिक अंध-विश्वासों का तर्कपूर्ण भंडाफोड़, सजीव चुभती भाषा में।

निबंध प्रबोध—रामरतन भटनागर, एम० ए० 2—0

निबंधों के विषय चुनने में लेखक ने विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान रक्खा है और नवीनतम विषयों का समावेश करने का यत्न किया है। निबंध-शिक्षा के विषय में हिन्दी में आज तक जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें इसका स्थान सबसे अच्छी पुस्तकों में होगा।

कहानी

वोल्गा से गंगा—राहुल सांकृत्यायन 4—0

हमारे ऐतिहासिक सांस्कृतिक विकास क्रम को माला के दानों-सा एक लड़ी में पिरोकर कथाकार राहुलजीने इतिहास के टूटे तारों को एक में बाँध दिया है। हमारा सतत गति-शील गौरवपूर्ण इतिहास पुस्तक के पन्नों से बोल रहा है।

रु० आ०

रोटी का टुकड़ा—शिवनारायण १—४

लेखक एक मजदूर हैं। उन्होंने शोषितवर्ग के अभिशप्त जीवन का कटु अनुभव किया है। यह पुस्तक उस विकसित श्रमिक वर्ग की कहानियों के रूप में आत्मकथा है जो अपने जीवन के पहलुओं पर विचार करता है और उनमें आमूल परिवर्त्तन लाने के लिये प्रयत्नशील रहता है।

खाली बोतल—भगवतीप्रसाद वाजपेयी १—८

लेखक की रोमांटिक, चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक कहानियों का असाधारण संग्रह। साहित्यिक भाषा में।

चतुरी चमार—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' १—८

विभिन्न सामाजिक स्तरों के भीतर घुस कर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर लिखी हुई सजीव कहानियाँ।

सतमी के बच्चे—राहुल सांकृत्यायन १—४

सीधी-सादी भाषा, सरल भाव, चुभते हुये व्यंग, देहाती मुहावरे, असाधारण प्लाट—यथार्थवादी और विद्रोही कथाकार की उत्कृष्ट कलाकृति।

गीदड़ का शिकार—अज़ीम बेग चग़ताई १—८

हास्य रसावतार मिर्ज़ा अज़ीम बेग चग़ताई की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं का अनुपम संग्रह।

जानी दुश्मन—श्री भारतीय १—१२

इस संग्रह में संसार की चुनी हुई प्रसिद्ध कहानियों का सुन्दर अनुवाद संग्रहीत है, जिसे पढ़कर पाठकों का मनोरंजन हुये बिना नहीं रह सकता।

किताब महल—प्रकाशक—इलाहाबाद